भगवान् इसी प्रकार से सत्य हैं जैसे हमारे हाथ, पैर, नेत्र, श्रोत्र, हृदय व मस्तिष्क आदि। जैसे विविध जीव, वृक्ष, वनस्पतियां या अनन्त रहस्यों से ओत-प्रोत यह पिण्ड या ब्रह्माण्ड सत्य हैं, ये हमें वास्तविक दिखते हैं तो परमात्मा तो इससे भी अधिक सत्य हैं। ऐसा विश्वास रखकर परमात्मा की अनुभूति के लिए या तो योग से आत्मा व परमात्मा का साक्षात्कार करें या वेदज्ञान को सर्वज्ञ भगवान् की वाणी, आदेश, निर्देश, संदेश अथवा वेद को ही सर्वज्ञ भगवान् मानकर, वेद को स्वत: प्रमाण या अन्तिम प्रमाण मानकर या स्वीकार कर वेद के एक-एक मन्त्र को भगवान् की तरह गौरव दें तथा उसी के अनुरूप मनसा, वाचा, कर्मणा हम आचरण या पुरुषार्थ करें। प्रथम कार्य तो सब नहीं कर सकते, परन्तु वेदानुकूल आचरण सभी कर सकते हैं।

संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि। हम एक पग भी, एक कदम भी वेद विना न चलें अर्थात् वेदानुकूल आचरण ही हमारा परमधर्म है।

परम श्रद्धेय गुरुदेव जो 24 घंटे वेद एवं वेदान्त में ही जीते हैं। आपने मनुष्य मात्र के सर्वविध कल्याण हेतु वेदों के सार रूप में कुछ मन्त्रों का संकलन कर हम सब पर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है।

978-93-88508-46-9

सर्वज्ञ-वेद

आचार्य प्रद्युम्न

सर्वज्ञ-वेद



आचार्य प्रद्युम्न

श्रद्धेय गुरुवर



परम श्रद्धेय गुरुवर आचार्य प्रद्युम्न जी महाराज भूमण्डल पर अवतरित उन विरल विभूतियों में से हैं, जिनके विषय में निम्न कथन पूर्णतया चरितार्थ होता है-

विद्याभ्यसनं व्यसनमथवा हरिपादसेवनं व्यसनम्।
अनपेक्षितगुणदोष: परोपकार: सतां व्यसनम्।।

अर्थात् सतत विद्याभ्यास एवं भगवद्भजन ही विलक्षण लोकोत्तर प्रकृति के सत्पुरुषों का व्यसन होता है, इसके साथ ही किसी के गुण-दोष से निरपेक्ष रहते हुए समत्वबुद्धि से परोपकार करना ही इन महान् सन्तों का व्यसन होता है। ऐसे ही महापुरुषों के लिए कहा गया है-

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाच:।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्या:।।

अर्थात् जिनका मुख अन्त:करण की निर्मलता से उत्पन्न प्रसन्नता से सदा खिला रहता है, जिनका हृदय दया से परिपूर्ण और वाणी अमृत बरसाने वाली होती है। जिनका कर्म सदा परोपकार-परायण होता है, ऐसे महापुरुष किसके लिए वन्दनीय नहीं हैं? ये सचमुच विश्ववन्द्य होते हैं। वेद एवं ईश्वर में अटूट निष्ठा, संयम और त्याग से ओत-प्रोत जीवन, प्रतिक्षण उच्चचेतनामय स्मृति, परमऋजुता से विभूषित अगाध विद्वत्ता एवं यतिजनोचित वीतरागता आपको विद्वानों की मण्डली में अलग पहचान देती हैं। वेद-वेदाङ्गपारगामिता, महाभाष्यार्णवपारीणता, सांख्ययोगविशेषज्ञता, वेदान्तपारायणप्रवणता, गीतोपदेशप्रवीणता, सतत स्वाध्याय-शीलता, निगूढशास्त्ररहस्योदघाटनपरायणता एवं शिष्ययोग्यता-सम्पादनरसिकता आपके संक्षिप्त चरित्र-चित्रण के लिए समुचित विशेषण हैं। आपकी दिव्य लेखनी से प्रसूत 'सर्वज्ञ-वेद' नामक प्रस्तुत पुस्तक ज्ञानालोक द्वारा लोक का पथप्रदर्शन करने के लिए अत्यन्त उपादेय है।

आचार्य बालकृष्ण



वैदिक संस्कृति व योग एवं आयुर्वेद के पुनरुद्धारक

योगर्षि स्वामी रामदेव जी महाराज

ओ३म्

सर्वज्ञ-वेद

सम्पादक एवं व्याख्याकार

आचार्य प्रद्युम्न

दिव्य प्रकाशन

दिव्य योग मन्दिर ट्रस्ट, पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार

प्रकाशक **दिव्य प्रकाशन,**
पतञ्जलि योगपीठ
महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली-हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग,
निकट- बहादराबाद, हरिद्वार- २४९४०५
(उत्तराखण्ड)

आईएसबीएन 978-93-88508-46-9

ई-मेल divyayoga@rediffmail.com

वेबसाइट www.divyayoga.com

दूरभाष (०१३३४) २४४१०७, २४०००८,२४६७३७

फैक्स (०१३३४) २४४८०५

मूल्य २००/- (दो सौ रुपये)

सर्वाधिकार © **प्रकाशकाधीन,**

प्रथम संस्करण प्रथम संस्करण (संवत्- २०७६ वि०)
प्रतियाँ- २०००

मुद्रक **ऋषि ऑफसैट प्रिन्टर्स**
वेद मन्दिर, अशोका टॉकीज़ के सामने,
ज्वालापुर, हरिद्वार-249405 (उत्तराखण्ड)
मो० : +91-9760284597
ईमेल- rishioffset@gmail.com

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
✦ नमः परमर्षिभ्यः	(१)
✦ शुभाशंसा	(६)
✦ विद्या-महिमा	(९)
१. ईशावास्यम्	१
२. मनुष्य का करणीय और प्रापणीय	२१
३. यज्ञ का प्रवाह अथवा कुटिलता-त्याग	२६
४. यज्ञ का वैशिष्ट्य अथवा पवित्रता	३१
५. तीन धेनु	४०
६. जीवन-प्रवाह अनृत से सत्य की ओर	४३
७. कौन है कर्मों में प्रेरक	४५
८. राक्षसों का नाश	४७
९. हिंसकों का संहार	४९
१०. वृत्रसंहाररूप यज्ञ में इन्द्र का वरण और शुद्धि	५१
११. अदिति के सम्पर्क में	५४
१२. शक्ति धन सदिच्छा	५६
१३. सृष्टि यज्ञ का उद्देश्य	५८
१४. ओ३म् का प्रतिष्ठापन	६०
१५. अग्नि का शोधन	६२
१६. प्रभु का प्रतिष्ठापन कैसे सम्पन्न हुआ ?	६३
१७. विमोचन	६७
१८. अनुमार्जन	६८
१९. वैदिक-सूक्तियाँ	७६
२०. ईश्वर स्तुति-प्रार्थना-उपासना	१२०

विषय	पृष्ठ
ऋग्वेद	
प्रथमं मण्डलम्	
२१. प्रथमं सूक्तम् (१)	१३५
२२. द्वितीयं सूक्तम् (२)	१३५
२३. दशं सूक्तम् (१०)	१३६
२४. एकादशं सूक्तम् (११)	१३७
२५. एकोनविंशं सूक्तम् (१९)	१३८
२६. चतुर्विंशं सूक्तम् (२४)	१३८
२७. अष्टात्रिंशं सूक्तम् (३८)	१३९
२८. चत्वारिंशं सूक्तम् (४०)	१४०
२९. एकचत्वारिंशं सूक्तम् (४१)	१४१
३०. त्रिचत्वारिंशं सूक्तम् (४३)	१४२
३१. पञ्चाशं सूक्तम् (५०)	१४२
३२. एकपञ्चाशं सूक्तम् (५१)	१४३
३३. अशीतितमं सूक्तम् (८०)	१४४
३४. एकोननवतितमं सूक्तम् (८९)	१४६
३५. नवतितमं सूक्तम् (९०)	१४७
३६. एकनवतितमं सूक्तम् (९१)	१४७
३७. सप्तनवतितमं सूक्तम् (९७)	१४९
३८. पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम् (१०५)	१४९
३९. षडुत्तरशततमं सूक्तम् (१०६)	१५१
दशमं मण्डलम्	
४०. सप्तचत्वारिंशं सूक्तम् (४७)	१५२
४१. अष्टचत्वारिंशं सूक्तम् (४८)	१५२
४२. एकोनपञ्चाशं सूक्तम् (४९)	१५३
४३. सप्तपञ्चाशं सूक्तम् (५७)	१५५
४४. अष्टपञ्चाशं सूक्तम् (५८)	१५५
४५. त्रिषष्टितमं सूक्तम् (६३)	१५६
४६. एकसप्तितमं सूक्तम् (७१)	१५७

विषय	पृष्ठ
४७. (एकाशीतितमं सूक्तम् (८१)	१५८
४८. द्व्यशीतितमं सूक्तम् (८२)	१५९
४९. त्र्यशीतितमं सूक्तम् (८३)	१५९
५०. अष्टाशीतितमं सूक्तम् (८८)	१६०
५१. त्र्युत्तरशततमं सूक्तम् (१०३)	१६२
५२. सप्तोत्तरशततमं सूक्तम् (१०७)	१६३
५३. अष्टोत्तरशततमं सूक्तम् (१०८)	१६४
५४. एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम् (११९)	१६५
५५. विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१२०)	१६६
५६. एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१२१)	१६६
५७. पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१२५)	१६७
५८. षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१२६)	१६८
५९. अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१२८)	१६९
६०. एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम् (१२९)	१७०
६१. एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम् (१३१)	१७०
६२. त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम् (१३३)	१७१
६३. सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम् (१३७)	१७२
६४. एकपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम् (१५१)	१७२
६५. चतुःषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम् (१६४)	१७३
६६. एकोनाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१७९)	१७४
६७. षडशीत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१८६)	१७४
६८. सप्ताशीत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१८७)	१७४
६९. नवत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१९०)	१७५
७०. एकनवत्युत्तरशततमं सूक्तम् (१९१)	१७५
यजुर्वेदः	
७१. एकत्रिंशोऽध्यायः	**१७६**
७२. द्वात्रिंशोऽध्यायः	**१७८**
७३. पञ्चत्रिंशोऽध्यायः	**१८०**
७४. षट्त्रिंशोऽध्यायः	**१८३**
७५. चत्वारिंशोऽध्यायः	१८६
अथर्ववेदः	
प्रथमं काण्डम्	
७६. प्रथमं सूक्तम् (१)	१८८
७७. पञ्चत्रिंश सूक्तम् (३५)	१८८
द्वितीयं काण्डम्	
७८. प्रथमं सूक्तम् (१)	१८९
७९. पञ्चदशं सूक्तम् (१५)	१८९
८०. सप्तदशं सूक्तम् (१७)	१९०
८१. अष्टदशं सूक्तम् (१८)	१९०
८२. एकोनविंशं सूक्तम् (१९)	१९०
८३. विंशं सूक्तम् (२०)	१९१
८४. एकविंशं सूक्तम् (२१)	१९१
८५. द्वाविंशं सूक्तम् (२२)	१९१
८६. त्रयोविंशं सूक्तम् (२३)	१९२
८७. चतुर्विंशं सूक्तम् (२४)	१९२

विषय	पृष्ठ
तृतीयं काण्डम्	
८८. त्रिंशं सूक्तम् (३०)	१९३
८९. एकत्रिंशं सूक्तम् (३१)	१९३
चतुर्थं काण्डम्	
९०. प्रथमं काण्डम् (१)	१९४
९१. एकादशं सूक्तम् (११)	१९४
९२. त्रयोदशं सूक्तम् (१३)	१९६
९३. चतुर्दशं सूक्तम् (१४)	१९७
९४. षोडशं सूक्तम् (१६)	१९८
९५. पञ्चविंशं सूक्तम् (२५)	१९९
९६. सप्तविंशं सूक्तम् (२७)	१९९
९७. अष्टाविंशं सूक्तम् (२८)	२००
९८. एकोनत्रिंशं सूक्तम् (२९)	२०१
९९. एकत्रिंशं सूक्तम् (३१)	२०१
१००. द्वात्रिंशं सूक्तम् (३२)	२०२
१०१. त्रयस्त्रिंशं सूक्तम् (३३)	२०३
१०२. चतुस्त्रिंशं सक्तम् (३४)	२०३
१०३. पञ्चत्रिंशं सूक्तम् (३५)	२०४
१०४. षट्त्रिंशं सूक्तम् (३६)	२०५
१०५. चत्वारिंशं सूक्तम् (४०)	२०६
पञ्चमं काण्डम्	
१०६. प्रथमं सूक्तम् (१)	२०७
१०७. द्वितीयं सूक्तम् (२)	२०८
१०८. तृतीयं सूक्तम् (३)	२०९
१०९. एकादशं सूक्तम् (११)	२१०
११०. पञ्चादशं सूक्तम् (१५)	२११
१११. षोडशं सूक्तम् (१६)	२१२
११२. सप्तदशं सूक्तम् (१७)	२१२
११३. अष्टादशं सूक्तम् (१८)	२१४
११४. चतुर्विंशं सूक्तम् (२४)	२१५
११५. षाड्विंशं सूक्तम् (२६)	२१७
११६. अष्टाविंशं सूक्तम् (२८)	२१८
षष्ठं काण्डम्	
११७. सप्तदशं सूक्तम् (१७)	२२०
११८. एकोनविंशं सूक्तम् (१९)	२२०
११९. एकपञ्चाशं सूक्तम् (५१)	२२०
१२०. पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम् (११५)	२२१
१२१. सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम् (११७)	२२१
१२२. त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम् (१३३)	२२२
सप्तमं काण्डम्	
१२३. षष्ठं सूक्तम् (६)	२२३
१२४. दशमं सूक्तम् (१०)	२२३
१२५. षड्विंशं सूक्तम् (२६)	२२३
१२६. एकपञ्चाशं सूक्तम् (५०)	२२४
१२७. एकपञ्चाशं सूक्तम् (५१)	२२४
अष्टमं काण्डम्	
१२८. प्रथमं सूक्तम् (१)	२२५
नवमं काण्डम्	
१२९. षष्ठं सूक्तम् (६)	२२७
१३०. नवमं सूक्तम् (९)	२२८
दशमं काण्डम्	
१३१. द्वितीयं सूक्तम् (२)	२३०
१३२. सप्तमं सूक्तम् (७)	२३२
१३३. अष्टमं सूक्तम् (८)	२३६
१३४. दशमं सूक्तम् (१०)	२४०
एकादशं काण्डम्	
१३५. चतुर्थं सूक्तम् (४)	२४३
१३६. पञ्चमं सूक्तम् (५)	२४५
१३७. सप्तमं सूक्तम् (७)	२४७

विषय	पृष्ठ
द्वादशं काण्डम्	
१३८. प्रथमं सूक्तम् (१)	२५०
१३९. पञ्चमं सूक्तम् (५)	२५५
त्रयोदशं काण्डम्	
१४०. द्वितीयं सूक्तम् (२)	२६०
१४१. चतुर्थं सूक्तम् (४)	२६३
षोडशं काण्डम्	
१४२. अष्टमं सूक्तम् (८)	२६७
१४३. नवमं सूक्तम् (९)	२७०
अष्टदशं काण्डम्	
१४४. द्वितीयं सूक्तम् (२)	२७१
एकोनविंशं काण्डम्	
१४५. षष्ठं सूक्तम् (६)	२७६
१४६. नवमं सूक्तम् (९)	२७७
१४७. दशमं सूक्तम् (१०)	२७८
१४८. एकादशं सूक्तम् (११)	२७९
१४९. त्रयोदशं सूक्तम् (१३)	२८०
१५०. चतुर्दशं सूक्तम् (१४)	२८१
१५१. पञ्चदशं सूक्तम् (१५)	२८१
१५२. षोडशं सूक्तम् (१६)	२८१
१५३. सप्तदशं सूक्तम् (१७)	२८२
१५४. अष्टादशं सूक्तम् (१८)	२८३
१५५. एकोनविंशं सूक्तम् (१९)	२८३
१५६. पञ्चविंशं सूक्तम् (२५)	२८४
१५७. षड्विंशं सूक्तम् (२६)	२८५
१५८. चत्वारिंशं सूक्तम् (४०)	२८५
१५९. एकचत्वारिंशं सूक्तम् (४१)	२८६
१६०. द्विचत्वारिंशं सूक्तम् (४२)	२८६
१६१. त्रिचत्वारिंशं सूक्तम् (४३)	२८६
१६२. पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम् (४५)	२८७
१६३. एकपञ्चाशं सूक्तम् (५१)	२८८
१६४. द्विपञ्चाशं सूक्तम् (५२)	२८८
१६५. त्रिपञ्चाशं सूक्तम् (५३)	२८९
१६६. चतुष्पञ्चाशं सूक्तम् (५४)	२९०
१६७. पञ्चपञ्चाशं सूक्तम् (५५)	२९०
१६८. एकोनषष्टितमं सूक्तम् (५९)	२९१
१६९. षष्टितमं सूक्तम् (६०)	२९१
१७०. एकषष्टितमं सूक्तम् (६१)	२९१
१७१. द्विषष्टितमं सूक्तम् (६२)	२९१
१७२. त्रिषष्टितमं सूक्तम् (६३)	२९२
१७३. चतुःषष्टितमं सूक्तम् (६४)	२९२
१७४. सप्तषष्टितमं सूक्तम् (६७)	२९२
१७५. अष्टषष्टितमं सूक्तम् (६८)	२९२
१७६. एकोनसप्ततितमं सूक्तम् (६९)	२९३
१७७. सप्ततितमं सूक्तम् (७०)	२९३
१७८. एकसप्ततितमं सूक्तम् (७१)	२९३
१७९. द्विसप्ततितमं सूक्तम् (७२)	२९३
विंशं काण्डम्	
१८०. अष्टादशं सूक्तम् (१८)	२९४
१८१. षड्विंशं सूक्तम् (२६)	२९४
१८२. चतुस्त्रिंशं सूक्तम् (३४)	२९४
१८३. एकाशीतितमं सूक्तम् (८१)	२९६
१८४. पञ्चाशीतितमं सूक्तम् (८५)	२९६
१८५. अष्टोत्तरशततमं सूक्तम् (१०८)	२९६

★ ★ ★

।। नमः परमर्षिभ्यः।।

भारतीय मनीषा वेद को नित्य, अपौरुषय, सर्वज्ञानमय स्वीकार करती है। **'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्थाः इति वेदाः'** ऐसी बह्वृक् प्रातिशाख्यवृत्ति के प्रारम्भ में आचार्य देवमित्र ने वेदशब्द की व्युत्पत्ति दर्शाई है। सायणाचार्य ने ऋग्भाष्य के प्रारम्भ में **'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'** ऐसा कहा है तथा कृष्णयजुर्वेदीयभाष्यभूमिका में **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोर लौकिकमुपायं वेदयति स वेदः'** ऐसा भी कहा। सायणाचार्य ने यह भी एक प्रमाण प्रस्तुत किया है-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

आधुनिक भाष्यकार श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इससे मिलती-जुलती ही व्युत्पत्ति की है- **'विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति सर्वा सत्यविद्या यैर्येषु वा स वेदः'।** महा० शान्ति०- २३२-३४ में महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास कहते हैं-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

अर्थात् भूमण्डल पर भाषा के रूप में सर्वप्रथम वेदवाणी का अवतरण हुआ, जो ईश्वरीय प्रसाद के रूप में आदि ऋषियों के हृदय में प्रकाशित हुई थी। इसी के माध्यम से संसार में सर्वविध ज्ञान-विज्ञान की प्रवृत्ति हुई। प्राचीन ऋषियों ने इसे वाक् नाम से कहा है।

वेद के बारे में मनुस्मृति में भगवान् मनु की दृष्टि भी द्रष्टव्य है-

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। (मनु.- २.६)

वेद धर्म के मूलस्रोत हैं, धर्म के उत्पत्ति स्थान या आधार हैं।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।

ते शिष्टाः ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः।। (मनु.- १२.१०९)

जिन विद्वानों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्मपालन पूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन-मनन किया है, वे ही प्रामाणिक धर्मशास्त्र के प्रणेता हो सकते हैं तथा वे ही धर्मविषयक संशय में प्रमाण हैं।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।। (मनु.- २.१०)

श्रुति को वेद समझना चाहिए और धर्मशास्त्र को स्मृति। श्रुति और स्मृतिशास्त्र सब स्थितियों और सब बातों में कुतर्क न करने योग्य हैं अर्थात् इनमें प्रतिपादित बातों का कुतर्क का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए; क्योंकि उन दोनों प्रकार के शास्त्रों से धर्म उत्पन्न हुआ है।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।। (मनु.- २.११)

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तप्रवचनों का तर्कशास्त्र के आश्रय से अपमान करे, उसको श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें; क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है, वह नास्तिक है।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।। (मनु.- २.१२)

वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचरण और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण ये चार धर्म के लक्षण हैं।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।। (मनु.- २.१३)

जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषय-सेवन में फँसा हुआ नहीं होता उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है।

जैसे धर्म का ज्ञान वेद से होता है, उसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान भी वेद से ही होता है, अन्य प्रमाण से उसे ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता है। क्योंकि रूप-रस आदि से रहित ब्रह्म इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता, इसी प्रकार लिङ्ग व सादृश्य आदि से रहित ब्रह्म अनुमान उपमान आदि प्रमाणों द्वारा भी नहीं जाना जा सकता। इसलिये **'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'** (तै. ब्रा.- ३.१२.९) में कहा है कि वेद को न जानने वाला पुरुष उस परिपूर्ण परमात्मा को नहीं जान सकता। इसी प्रकार **'वेदहेतुरपि ब्रह्म तद्वेदादेव मीयते'** (लघुवार्तिक १.१.३) ब्रह्म यद्यपि वेद का हेतु है तो भी उसका ज्ञान वेद से ही होता है।

शास्त्रयोनित्वात् (ब्रह्मसूत्र- १.१.३) के द्वारा कहा गया है कि ऋग्वेद आदि शास्त्र का कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है, सूत्र का यह एक व्याख्यान है अथवा ब्रह्म केवल ऋग्वेद आदि शास्त्रगम्य होने से प्रमाणान्तरवेद्य नहीं है, यह सूत्र की द्वितीय व्याख्या है। भगवद्पाद शङ्कराचार्य इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-

महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् सम्भवति, यथा व्याकरणादि, पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादि-प्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरणस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद् यस्माद् महतो भूताद्योनेः सम्भवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्ऋग्वेदः' (बृह.- २.४.१०) इत्यादिश्रुतेः, तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति। अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाद् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे-

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्? यावता पूर्वसूत्रे एव एवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। उच्यते- तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण ('जन्माद्यस्य यतः' इत्यनेन) स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानात् जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृतेशास्त्रयोनित्वात् (ब्रह्म० १.१.३)

'ऋग्वेदादि' ग्रन्थ की दृष्टि से और अर्थ की दृष्टि से भी महान् हैं, हित का उपदेशक होने के कारण यह 'शास्त्र' नाम से कहा जाता है, जिसमें पुराण, न्याय, मीमांसा धर्मशास्त्र इत्यादि अनेक विद्याएँ हैं, 'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष' जिसके छः अङ्ग हैं, ऐसे ये दश प्रस्थान हैं जो वेदार्थज्ञान के कारण हैं। ऋग्वेदादि शास्त्र उनसे उपकृत हैं, प्रदीप के समान सभी अर्थों के प्रकाशक हैं। अत एव वेद सर्वज्ञकल्प हैं। उस वेद का कारण ब्रह्म है; क्योंकि सर्वज्ञ गुणों से युक्त ऋग्वेदादि पूर्वोक्त शास्त्र का जन्म सर्वज्ञ परमेश्वर को छोड़कर किसी अन्य से हो नहीं सकता। उपादान कारण के गुण ही कार्य में आते हैं, यह सर्वत्र देखा जाता है। यह भी देखा गया है कि जिस-जिस विस्तृत अर्थ का प्रकाशक शास्त्र जिस पुरुष विशेष से उत्पन्न होता है, वह पुरुष उस अपने द्वारा निर्मित शास्त्र और उस शास्त्र में वर्णित ज्ञान से अधिक ज्ञान वाला हुआ करता है, यथा पाणिन्यादि व्याकरण निर्माता के ज्ञान की अपेक्षा उनके द्वारा रचित व्याकरणादि ज्ञेयवस्तु के एकदेश को ही बतलाता है, फिर तो अनेक शाखाभेद से भिन्न देवता, तिर्यक्, मनुष्य, ब्राह्मणादि वर्ण, ब्रह्मचर्यादि आश्रम प्रविभाग का कारण, सम्पूर्ण ज्ञान की खान ऋग्वेदादि का निर्माण बिना परिश्रम के पुरुष निःश्वास की भाँति लीलामात्र में जिस महद्भूत (सत्यवस्तु) योनि से होता है, वह ब्रह्म है। ऐसे ही 'इस महद्भूत ब्रह्म का निःश्वास ऋग्वेदादि हैं' इत्यादि श्रुति से भी इस जगत् कारण परमात्मा में निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व सिद्ध होता है। ऋग्वेदादि को ईश्वरकृत मानने पर उसमें पौरुषेयत्वापत्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि अर्थज्ञान के बाद शब्दरचना मानने पर पौरुषेयत्वापत्ति आती है।

परमेश्वर को वेदराशि का एवं तदर्थ का ज्ञान पूर्वकल्पीय होता है, जिसे कल्पारम्भ में स्मरण कर ब्रह्मादि में उस वेद का आविर्भाव करता है। ईश्वरीय ज्ञान पर कभी आवरण नहीं आता, ईश्वर को वेदार्थज्ञान भी निश्चित रूप से रहता ही है। अत: वह सर्वज्ञ है। उसके द्वारा रचित वेद में पौरुषेयत्वापत्ति की शङ्का निर्मूल है।

लक्षण और प्रमाण से किसी भी अर्थ की सिद्धि होती है। जब 'जन्मादि०' सूत्र द्वारा ब्रह्म का लक्षण बतला दिया गया तो फिर उसके सम्बन्ध में प्रमाण की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, एतदर्थ **'शास्त्रयोनित्वात्'** इस सूत्र की रचना भगवान् बादरायण करते हैं।

जन्माद्यस्य यत: (ब्रह्म. १.३.२) इस पूर्वसूत्र में 'यतो वा०' इत्यादि शास्त्रों का उदाहरण दिया है। जब पूर्वसूत्र में ही ऐसे शास्त्र का उदाहरण देते हुए सूत्रकार ने ब्रह्म शास्त्रयोनि है ऐसा कह दिया है, तब फिर इस सूत्र का प्रयोजन ही क्या है? इस विषय में कहा जाता है- पूर्वसूत्र के अक्षरों से शास्त्र का स्पष्ट ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिए जगत् के जन्म आदि का केवल अनुमान रूप से उपन्यास किया है, ऐसी कोई शङ्का करे तो उस आशङ्का को दूर करने के लिए शास्त्रयोनित्वात् यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

ऐसे सर्वज्ञ स्वरूप वेद में शतश: विभिन्न सूक्तों की ऋचाओं के द्वारा विभिन्न विषयों का प्रकाश प्राप्त होता है। हमने **'सर्वज्ञ-वेद'** नाम की इस लघु-पुस्तिका में केवल नमूने के तौर पर शुक्लयजुर्वेद से कुछ मन्त्र और कुछ सूक्तियों का चयन किया है। साथ में स्वाध्याय प्रेमी विद्वानों के लिए कुछ प्रसिद्ध सूक्तों का भी संकलन कर दिया है, आशा है पाठक इनके स्वाध्याय का अवश्य ही रस लेंगे।

श्रीस्वामी जी महाराज व श्री आचार्यजी के अनुग्रह, प्रेम व उदारता के लिए सदा-सर्वदा कृतज्ञ रहा हूँ और रहूँगा।

विदुषां विनेय:

प्रद्युम्न:

शुभाशंसा

सर्वज्ञ ईश्वर की वाणी, उपदेश या ज्ञान है वेद, इस पूरे अस्तित्व में दो प्रकार का ज्ञान, संवेदना, सृजन या पदार्थ हैं, एक कारण रूप मूल प्रकृति दूसरा कार्यरूप दृश्य जगत्। इस सब ज्ञान एवं जड़ तथा चेतन जीवजगत् की रचना के मूल में भगवान् ही है। भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वकर्ता, सर्वनियन्ता एवं सर्वाधार हैं। वेद क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान है, अतः वेद भी सर्वज्ञ हैं। भौतिकवादी या स्वयं को नास्तिक कहने वाले लोग अक्सर भगवान् के होने का प्रमाण बार-बार मांगते हैं। इस सन्दर्भ में हम तीन बड़ी बातों पर बहुत ही गंभीरता से विचार करें। सबसे पहली बड़ी बात या तथ्य यह है कि ईश्वर के होने में हमारे पिण्ड व ब्रह्माण्ड में करोड़ों, अरबों, असंख्य प्रमाण हैं। शरीर के ट्रिलियन्स ऑफ सेल्स एवं ब्रह्माण्ड के एक-एक क्वार्क एवं एटम में हो रही घटनाएं उसकी वैज्ञानिक रचना एवं अतिमानवीय अप्रतिम कार्य प्रणाली ईश्वर के होने का प्रमाण ही तो है। जबकि इसके विपरीत भगवान् के न होने का कोई भी एक प्रमाण नहीं है।

दूसरी बात मनुष्य चाहे कितना ही बड़ा वैज्ञानिक, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, धनवान्, ऐश्वर्यवान्, बलवान् या महान् हो जाए किन्तु मूल रचना नहीं कर सकता। शरीर के रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र या अण्डा आदि तथा ब्रह्माण्ड का कोई नया परमाणु या नया बीज आदि नहीं बना सकता। मूल रचना का विस्तार, संशोधन, संस्कार या परिष्कार या गुणवत्ता का आधान आदि तो कर सकता है परन्तु मूल रचना ईश्वरीय विधान से ही संभव है।

तीसरी बात इस सम्पूर्ण दृष्ट, सभी के प्रत्यक्ष का विषय बने हुए साकार अस्तित्व के पीछे एक अदृष्ट अस्तित्व का अनुभव कोई भी व्यक्ति, जो जरा सा भी विवेकशील व सावधान है, कर सकता है।

अत्यन्त संवेदनशील मनुष्य के हृदय या मस्तिष्क में जो भी नया ज्ञान या नई प्रेरणाएँ सूक्ष्म या विराट रूप में उतरती हैं, ये सभी ज्ञान व प्रेरणाएं हम मनुष्य के सामर्थ्य से परे एक अतिमानस चेतना का संकेत करती हैं और इस अतीन्द्रिय ज्ञान, संवेदना या प्रेरणा का स्रोत जो है वही ईश्वर है।

उस ईश्वर का कण-कण या क्षण-क्षण में अनुभव करना, सम्पूर्ण रचना के पीछे उस रचयिता को देखने की दृष्टि या अतीन्द्रिय ज्ञान की अनुभूति सब मनुष्यों को नहीं होती है। इसीलिए परमात्मा ने अपने सम्पूर्ण ज्ञान को वेद के माध्यम से जगत् में सृष्टि के आदिकाल में ही श्रुति के रूप में ऋषियों के द्वारा व्यक्त किया। वेद की एक-एक ऋचा या मंत्र भगवान् का साक्षात् ज्ञान करा रहा है या उससे हमें यह बोध होता है कि स्वयं भगवान् ही हम सब जीवों के सर्वविध कल्याण का एकमात्र साधन है। वेद भगवान् का सब जीवों के लिए बहुत बड़ा अतुलनीय अनुग्रह है। जैसे हम स्वयं के शरीर एवं इन्द्रियादि एवं जगत् के विविध पदार्थों एवं उनसे होने वाले सुख-दुःख आदि को सत्य मानते हैं, वैसे ही भगवान् व उसका ज्ञान भी परम, शाश्वत या नित्य सत्य है।

भगवान् इसी प्रकार से सत्य हैं जैसे हमारे हाथ, पैर, नेत्र, श्रोत्र, हृदय व मस्तिष्क आदि तथा विविध जीव, वृक्ष, वनस्पतियां या अनन्त रहस्यों से ओतप्रोत यह पिण्ड या ब्रह्माण्ड जैसे सत्य हैं, ये हमें वास्तविक दिखते हैं तो परमात्मा तो इससे भी अधिक सत्य हैं। ऐसा विश्वास रखकर परमात्मा की अनुभूति के लिए या तो योग से आत्मा व परमात्मा का साक्षात्कार करें या वेद ज्ञान को सर्वज्ञ भगवान् की वाणी आदेश, निर्देश, संदेश अथवा वेद को ही सर्वज्ञ भगवान् मानकर, वेद को स्वतः प्रमाण या अन्तिम प्रमाण मानकर या स्वीकार करके वेद के एक-एक मन्त्र को भगवान् की तरह गौरव दें तथा उसी के अनुरूप मनसा, वाचा, कर्मणा हम आचरण या पुरुषार्थ करें। प्रथम कार्य तो सब नहीं कर सकते परन्तु वेदानुकूल आचरण सभी कर सकते हैं।

संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि। हम एक पग भी, एक कदम भी वेद विना न चलें अर्थात् वेदानुकूल आचरण ही हमारा परमधर्म है।

परम श्रद्धेय गुरुदेव जो 24 घंटे वेद एवं वेदान्त में ही जीते हैं। मनुष्य मात्र के सर्वविध कल्याण हेतु वेदों के सार रूप में कुछ मन्त्रों का संकलन उन्होंने करके हम सब पर बहुत बड़ा अनुग्रह या उपकार किया है। यदि हम पूर्ण श्रद्धा से प्रतिदिन एक पृष्ठ भी सर्वज्ञ वेद पुस्तक का अध्ययन करके तदनुरूप जीवन में आचरण या व्यवहार करेंगे तो निश्चित रूप से हमारा जीवन बहुत ही सुन्दर, सुखी, सफल, महान् व दिव्य होगा। जो चारों वेद एवं उसके भाष्य को घर में नहीं रख सकते वे भी इस छोटी-सी पुस्तक से वेद की मूल आत्मा से परिचित हो सकते हैं। मैं सबसे आह्वान करूँगा कि सभी विवेकशील भाई-बहन अपने घरों में इस पुस्तक की एक-एक प्रति अवश्य रखें। अपने मित्रों व स्वजनों को भी उपहार में यह पुस्तक भेंट दे कर उनके जीवन में अनन्त दिव्यता व प्रसन्नता को भी आप बढ़ा सकते हैं। श्रद्धेय गुरुदेव को सर्वज्ञ वेद के संकलन हेतु कृतज्ञता पूर्वक अनन्त प्रणाम व कोटिशः अभिनन्दन।



-स्वामी रामदेव

विद्या-महिमा

- विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
  असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा।। (मनु०- २.११४)
- यमेव तु विद्या नियतब्रह्मचारिणम्।
  तस्मै ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने।। (मनु०- २.११५)
- विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
  असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।।
- य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदु:खं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
  तं मन्येन पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह।।
- अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
  यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्।।
- यमेव विद्या: शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।।
  यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।।
  निधि: शेवधिरिति।। (निरुक्त भूमिका- २.१.४)
- य: कश्चित् कस्यचिद् धर्म: मनुना परिकीर्तित:।
  स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स:।।

★ ★ ★

।।ओ३म्।।

(१) ईशावास्यम्

इस जगती में अर्थात् ब्रह्माण्ड में यह जो कुछ भी जगत् रूप है, गतिशील है वह सब ईश के द्वारा वास्य है, बसने योग्य है, अथवा ईश के द्वारा आच्छादन करने योग्य है। इस सब को ईश ने आच्छादित किया हुआ है या ईश इस सब के भीतर बसा हुआ है। इस कारण त्यागभाव के साथ भोग कर। किसी के भी धन की लालच मत कर।

माण्डूक्य उपनिषद् के बाद ईशावास्योपनिषद् आकार में सबसे छोटा उपनिषद् है, केवल मात्र १८ मन्त्र हैं, किन्तु फिर भी यह समस्त औपनिषद दर्शन का आधार माना जाता है। यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय ही कुछ पाठभेद तथा कुछ मन्त्रों के क्रमभेद के साथ उपनिषद् के रूप में स्वीकृत है।

आद्य शंकराचार्य जी के सहित अन्य सभी आचार्य तो उपनिषदों को श्रुति के अन्तर्गत परिगणन करते ही हैं, किन्तु आर्यसमाजी विद्वान् जो केवल संहिता भाग को ही वेद या श्रुति के रूप में मानते हैं उन्हें भी ईशावास्योपनिषद् को साक्षाद् वेद या श्रुति मानने में कोई आपत्ति नहीं है। कहा जाता है कि वेद का वह भाग जिसमें कर्मकाण्ड की प्रधानता है वह तो है वेद तथा जिसमें वेद का अन्तिम सार उपलब्ध है वह है वेदान्त। इस व्यवस्था के अनुसार यजुर्वेद के ३९ अध्याय तो किसी न किसी रूप में (साक्षात् अथवा परोक्ष रूप में) कर्मकाण्ड में विनियुक्त हैं और ४० वें अध्याय का किसी भी रूप में कर्मकाण्ड में विनियोग नहीं है अत: इसे ज्ञान काण्ड में रखा गया है। इस उपनिषद् की मन्त्रसंख्या १८ को भारतीय परम्परा में विविध रूपों में या प्रसङ्गों में आदर प्राप्त हुआ है। जैसे कि १८ पुराण, महाभारत के १८ पर्व, श्रीमद्भगवद्गीता के १८ अध्याय, १८ अक्षौहिणी सेना, १८ दिन महाभारत युद्ध का काल, सनातनधर्मपरम्परा में भगवान् के नाम जप हेतु अष्टादशाक्षरी मन्त्र इत्यादि।

विशरण (नाश), गति और अवसादन (शिथिल करना) इन तीन अर्थों वाली तथा उप और नि उपसर्गपूर्वक क्विप् प्रत्ययान्त 'सद्' धातु का 'उपनिषद्' यह रूप बनता है। उपनिषद् का प्रतिपाद्य और वेद्य ब्रह्म है। किस अर्थ विशेष के योग से उपनिषद् यह शब्द विद्या अर्थात् ज्ञान का वाचक है? इसका उत्तर है जो मोक्षकामी पुरुष हैं वे लौकिक और पारलौकिक विषयों से विरक्त होकर उपनिषद् शब्दवाच्य विद्या के समीप जाकर अर्थात् उसको प्राप्त कर उसमें स्थित होकर निश्चयपूर्वक उसका परिशीलन करते हैं उनको अविद्या आदि संसार के बीज का विशरण (हिंसन) अर्थात् विनाश हो जाता है, अत: विशरण रूप इस प्रथम अर्थ के हेतु से उपनिषद् शब्द विद्या का वाचक है। काठक श्रुति इसी बात को आगे कहेगी– **'निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते'** (क०उ० १.३.१५) अर्थात् उसे साक्षात् जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है। **ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णा: सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादे: संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनादित्यने नार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते।** (शां० भा०क०उ० सम्बन्ध भा०)

सद् धातु का दूसरा अर्थ है 'गति'। उन्हीं पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त मुमुक्षुओं को ब्रह्मविद्या ब्रह्म के पास पहुँचा देती है, इस हेतु से भी अर्थात् इस अर्थ के योग के कारण भी ब्रह्मविद्या उपनिषद् है। इस अर्थ को भी श्रुति स्वयं आगे कहेगी– **ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु:।** (क०उ० २.३.१८) अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष विरज (शुद्ध) और विमृत्यु (अमर) हो गया। **पूर्वोक्तान् विशेषणान् मुमुक्षून् वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्म गमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्योपनिषद्।** (सम्बन्ध भा०क०उ०)

सद् धातु का तीसरा अर्थ है 'अवसादन'। जो अग्नि भू; भुव: आदि लोकों से पूर्व सिद्ध है, ब्रह्मा से उत्पन्न और सर्वज्ञ है वह अग्नि स्वर्गलोकरूप फल की प्राप्ति का कारण होने से लोकान्तरों में पुन:-पुन: प्राप्त होने वाले

गर्भवास, जन्म और वृद्धावस्था आदि उपद्रवसमूह का अवसादन अर्थात् शैथिल्य करने वाली है, अत: इस धात्वर्थ के योग से भी अग्निविद्या भी उपनिषद् है जिसको कि नचिकेता ने दूसरे वर में माँगा था। जैसा कि श्रुति में कहा है– **'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते'** (क०उ० १.१.१३) अर्थात् स्वर्गलोक को प्राप्त होने वाले पुरुष अमरत्व प्राप्त करते हैं-

लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो (ब्रह्मणो जात: स चासौ ज्ञश्च) योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानाया: स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौन:पुण्येन प्रवृत्तस्याऽवसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्यते।

(सम्बन्ध भा०क०उ०)

यहाँ यह शंका हो सकती है कि उपनिषद् शब्द तो प्राय: लोक में ग्रन्थ के लिये प्रयुक्त होता है। जैसे– **'उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च'** इसका तो सीधा सा उत्तर है कि संसार के हेतुभूत अविद्या आदि का नाश करना, ब्रह्म को प्राप्त करना इत्यादि सद् धातु के अर्थ ग्रन्थ मात्र में तो सम्भव नहीं है। ये अर्थ तो विद्या में ही सम्भव हो सकते हैं। ग्रन्थ चूंकि विद्या के लिये है, इसलिये वह भी उस शब्द से कहा जा सकता है। जैसे आयुवृद्धि में उपयोगी होने के कारण 'घृत आयु ही है'(आयुर्वै घृतम्) ऐसा कहा जाता है। इसलिये विद्या में उपनिषद् का मुख्य प्रयोग है तथा ग्रन्थ में गौण प्रयोग।

इस प्रकार 'उपनिषद्' शब्द का निर्वचन करने से ही विद्या का विशिष्ट अधिकारी (मुमुक्षु) बतला दिया गया। 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्र आत्मा के यथार्थस्वरूप का प्रतिपादन करने वाले हैं। आत्मा का यथार्थ स्वरूप शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व और सर्वगतत्व आदि हैं। सम्पूर्ण उपनिषदों की परिसमाप्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने में ही होती है तथा गीता और मोक्ष धर्मों का भी इसी में तात्पर्य है। इस प्रकार ये मन्त्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश करके आत्म सम्बन्धी स्वाभाविक अज्ञान

को निवृत्त करते हुए संसार के शोक-मोहादि धर्मों के विच्छेद के साधन स्वरूप आत्मैकत्वादि विज्ञान को ही उत्पन्न करते हैं। अत: प्रकृत में निष्कर्ष यह निकला कि मुमुक्षु हुआ उपनिषद् विद्या का अधिकारी; आत्मैक्य हुआ विषय; शास्त्र और विषय के बीच सम्बन्ध हुआ प्रतिपाद्य-प्रतिपादक अथवा ज्ञाप्य-ज्ञापक रूप; अधिकारी और विषय के बीच सम्बन्ध हुआ ग्राह्य-ग्रहीतृ सम्बन्ध; अधिकारी और प्रयोजन के बीच साध्य-साधक सम्बन्ध हुआ; तथा शास्त्र व प्रयोजन के बीच सम्बन्ध हुआ साध्य-साधन रूप। उपनिषद् विद्या का प्रयोजन है– अज्ञाननिवृत्ति और परमानन्द प्राप्ति।

शास्त्रमर्यादा का दिग्दर्शन कराते हुए मीमांसक कुमारिलभट्ट ने कहा है कि–

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्य: सम्बन्ध: सप्रयोजन:।।

अर्थात् जिस शास्त्र को पढ़ने-सुनने जा रहे हैं, सुनने वाले (अधिकारी) को उस शास्त्र का विषय और प्रयोजन स्पष्ट होना चाहिये कि इस अध्येतव्य शास्त्र की विषय वस्तु क्या है, इसका प्रयोजन क्या है शास्त्र और विषय का या अधिकारी और विषय का या शास्त्र व प्रयोजन या अधिकारी व प्रयोजन के बीच का सम्बन्ध भी स्पष्ट होना चाहिए, इसलिये शास्त्र के आदि में ही प्रयोजन सहित सम्बन्ध का कथन कर देना चाहिये।

अस्तु, अब हम मन्त्र पर विचार करते हैं, 'ईशावास्यम् इदं सर्वं यत् किञ्च् जगत्यां जगत्' मन्त्र की इस पंक्ति की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है एक तो 'ईशा' इस पद में करण में तृतीया मानकर और दूसरी कर्ता में तृतीया मानकर। प्रथम व्याख्या के अनुसार कर्तावाची 'साधक' इस पद का अध्याहार करना होगा। इस प्रकार मन्त्रार्थ होगा– साधक को ईश की भावना के द्वारा इस ब्रह्माण्ड (Universe) में जो कुछ है उस सबको आच्छादित कर देना चाहिये। दो तरह के वाक्यों की हम कल्पना कर सकते

हैं एक तत्त्वकथनपरक और दूसरे साधनपरक (विधिपरक)। प्रकृत व्याख्या में यह वाक्य तत्त्वपरक न होकर साधनपरक होगा। किन्तु जब ईशा शब्द में कर्ता में तृतीया होगी तो यह वाक्य तत्वपरक अर्थ का बोधक होगा अर्थात् ईश के द्वारा यह सब 'इदं सर्वम्' बसने योग्य है (='वस निवासे') अथवा आच्छादन करने योग्य है (='वस आच्छादने') अर्थात् ईश इसमें बसा हुआ है अथवा ईश ने इस सबको आच्छादित किया हुआ है। हाँ! यह बात सत्य है कि तत्त्वनिर्देशपरक वाक्य भी अन्ततः तो विधि में ही पर्यवसित हो जाते हैं। वाक्यार्थ का निश्चय करने वाले मीमांसकों की ऐसी ही मर्यादा है।

हाँ! तो प्रथम व्याख्या के अनुसार साधक को अपने में एक भावना बनानी होती है कि यहाँ जो कुछ भी है अर्थात् नदी-नाले-पहाड़-वृक्ष-सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र, सागर व पर्जन्य, पृथिव्यादि ५ स्थूलभूत, ५ सूक्ष्मभूत, शब्द-स्पर्शादि ५ इन्द्रियों के विषय, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, अव्यक्त प्रकृति अथवा पशु-पक्षी स्त्री-पुरुष आदि प्राणी यह सारा अस्तित्व जिसका की मन्त्र में 'इदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्' इन शब्दों से संकेत किया गया है, वह सब ईश्वर के प्रेमी मुझ भक्त को ईश से आच्छादित दिखाई दे रहा है। जैसे कि मानो कोई फलों से भरा टोकरा हो और उसे किसी ने वस्त्र से आच्छादित कर दिया हो। इसी प्रकार यह सारा विश्व ईश से आच्छादित है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण जगत् ईश से आच्छादित है किन्तु साधक जिसने अध्यात्म में अभी-अभी अपना कदम बढाया है, उसको यह अनुभूति, यह ज्ञान किञ्चित् भी अनुभव में नहीं आ रहा, अतः भावना के द्वारा ईश्वर को सर्वत्र देखना, अनुभव करना होता है। यदि साधक की यह भावना दृढ हो जाती है तो यह की गयी भावना ही उस के लिये आगे चलकर एक सच्ची अनुभूति में बदल जाती है। साधक के लिये यह समस्त दृश्य तो छूट जाता है और उसके पीछे वर्तमान साक्षात् सच्चिदानन्द अर्थात् अखण्ड अविनाशी चिन्मय रसमय तत्त्व उसके अनुभव का विषय बन

जाता है। इसी वाक्य के समानार्थक और भी अनेक शतशः श्रुतियाँ मिलती हैं– जैसे- **ब्रह्मैवेदं विश्वम्** (मु०उ० २.२.११), **ओंकार एवेदं सर्वम्** (छा०उ० २.२३.३) **ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥** (यजु० ३२.८)। पाठकों के संज्ञान के लिए हम कुछ और भी मन्त्र प्रस्तुत कर रहें हैं–

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। (मु०उ० २.१.१०)

पुरुषऽएवेदꣳसर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्। (यजु० ३१.२)

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। (यजु० ३१.२२)

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
(यजु० ३१.१९)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥ (यजु० ३२.१)

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥
(ऋ० ८.५८.२)

ओमित्येदक्षरमिदꣳसर्वं, तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।

यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। (माण्डू०उ० १)

सर्वꣳह्येतद् ब्रह्माऽयमात्मा ब्रह्म। (माण्डू०उ० २)

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽउ गर्भेऽअन्तः।
सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥
(यजु० ३२.४)

यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥
(यजु० ३२.५)

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वीः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश॥
परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं वितंतं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥

(यजु० ३२.११-१२)

जब ईश्वर ही सब कुछ का मालिक है तो मनुष्य के पास जो कुछ होता है– शरीर, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ, रूपये-पैसे, जमीन-जायदाद गाय आदि पशु, बाल-बच्चे इत्यादि उन सबके साथ किसी साधक का क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर हमें सहजता से प्राप्त हो जाता है। साधक के पास जो धन-सम्पत्ति, वैभव के नाम पर होता है वह उसका न्यासी (ट्रस्टी) है मालिक नहीं और चेतन प्राणियों (स्त्री-पुत्र-पिता आदि) का वह सेवक है। न तो ट्रस्टी अपने सुख के लिए कुछ करता है या चाहता है और न सेवक ही। जैसे कोई ईमानदार खजांची होता है वह सारे खजाने का पाई-पाई का हिसाब रखता है, आजकल के वाग् व्यवहार में बैंक-कैशियर यह नाम रख सकते हैं वैसे ही साधक को रुपये-पैसे, सामान, धन-सम्पत्ति के प्रति अपना मनोभाव बनाकर रखना चाहिए। ट्रस्ट के जो नियम होते हैं उनका पालन करते हुए किसी भी ट्रस्टी को ट्रस्ट की सम्पत्ति का उपयोग करना होता है। वह कभी भी अपनी मौज मस्ती के लिये ट्रस्ट की किसी भी वस्तु, सामान या सम्पत्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। साधक जैसे ही अपने को ट्रस्टी स्वीकार करता है तो उसका सहज परिणाम यह होता है कि ममता के भाव के साथ जो वह पहले पदार्थों का संचय करता हुआ आगे से आगे उन पदार्थों की आसक्ति के बन्धन में बंधता जा रहा था वह टूट जाता है। किसी भी मनुष्य के सामने उसके आन्तरिक विकास में दो बड़ी बाधाएँ सदा ही उपस्थित रहती हैं- वस्तुओं, पदार्थों व धन के प्रति लोभ और व्यक्तियों में मोह, इन्हीं के फलस्वरूप शोक होता है। इष्ट संयोग का वियोग ही तो शोक का जनक है।

ईश्वर को सबका स्वामी स्वीकार करने पर ये दोनों बाधाएँ दूर हो जाती हैं, और जब लोभ व मोह नहीं रहता तो इन्हीं के परिणाम स्वरूप होने वाला शोक भी नहीं होता। पदार्थों के लोभ और व्यक्तियों के मोह में आबद्ध होकर उनसे सुख लेने का नाम ही तो भोग है। भोग से उन भोगों में आसक्ति और पुन: वही अन्तहीन चक्र आगे-आगे बढ़ता रहता है। इसीलिए मन्त्र में कहा गया कि क्योंकि ईश्वर ही सबका मालिक है, इसलिये इस सब पर से अपने अधिकार को हटा लो और त्याग भाव के साथ इन पदार्थों का उपभोग या उपयोग करो आसक्त होकर नहीं। तथा सेवा के भाव से व्यक्तियों की सेवा करो न कि बदले में किसी प्रकार का सुख लेने के लिए।

यदि किसी को साक्षात् यह अनुभूति हो जाए कि यहाँ जो कुछ भी है वह सब ईश के द्वारा आच्छादित है या ईश उस सब में बसा हुआ है तो इस अनुभूति से उस व्यक्ति को क्या विशेष लाभ मिलेगा अथवा उसके व्यावहारिक जीवन में क्या कुछ परिवर्तन आ जायेगा, जो कि इस अनुभूति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ किया जाए।

इस प्रश्न का ठीक उत्तर तो तभी मिल सकता है, जब हम उस अनुभूति को प्राप्त हो जाएँ, उसे जीने लगें, पर फिर भी बौद्धिक स्तर से भी प्रश्नों पर विचार किया जाता है और उनका समाधान खोजा जाता है। यहाँ पहली बात ध्यान देने की यह है कि मन्त्र में उसे 'ईश' कहा गया है। संस्कृत भाषा के सभी शब्द क्रिया से संज्ञावाची होते हें। ईश का अर्थ है स्वामी अर्थात् ऐश्वर्यवाला (स्वामिन्नैश्वर्ये अ०-५.२.१२६)। कई बार किसी शब्द के विपरीत अर्थ से भी हम उस शब्द के वास्तविक अर्थ तक पहुँच जाते हैं। ईश का विपरीतार्थक शब्द है 'अकिञ्चन' अर्थात् जिस के पास अपना करके कुछ भी नहीं है। अत: ईश शब्द का अर्थ होगा– जिसके पास सब कुछ है अर्थात् यहाँ जो कुछ भी है वह सब उसी का है। उसका उस सब पर पूर्ण स्वामित्व है, पूर्ण नियंत्रण है। जैसा कि हमने पहले ही दर्शाया यहाँ एक तो स्थूल व सूक्ष्म भूत-भौतिक जगत् है, दूसरे जीवगण हैं और तीसरे उनके विविध कर्म हैं।

अस्तित्व के ये सब घटक 'इदं सर्वम्' के अन्तर्गत आते हैं। मन्त्र कह रहा है कि ईश इन सब में ओत-प्रोत है। इसी उपनिषद् में ईश की और भी बहुत सारी विशेषताएँ आगे चौथे मन्त्र से आठवें मन्त्र तक विस्तार से बताई गई हैं हम उन सब की चर्चा अभी न करके उन मन्त्रों के व्याख्यान अवसर पर विस्तार से करेंगे। फिर उपनिषद् के अन्त में १५ मन्त्र से १८वें मन्त्र तक इसी ईश को विविध नामों के द्वारा सम्बोधित करते हुए कुछ प्रार्थनाओं का कथन हुआ है।

जब कोई विचारशील स्पष्ट रूप से यह देख पाता है कि कोई एक ऐसी सत्ता है जो सर्वदृक् है सर्वनियन्त्रक, निष्पक्ष, शुद्ध, अपापविद्ध (सर्वथा पापमुक्त) कवि, मनीषी, स्थिर, सर्वव्यापक, सर्व का आश्रय और अनन्त ज्ञान व अनन्त क्रिया से युक्त है। हम जीवगण जो कुछ भी कर्म करते हैं उन कर्मों पर भी उसका नियन्त्रण है क्योंकि कर्मों में भी वह ओत-प्रोत है। कर्मों पर नियन्त्रण इस अर्थ में कि 'कोई ऐसा करेगा तो ऐसा होगा' इस नियम का अबाधित रूप से काम करना। मनुष्येतर योनियाँ तो केवल भोग योनियाँ हैं अत: जेल में कैदी को जैसे कर्म करने का स्वातन्त्र्य नहीं होता वैसे ही मनुष्येतर योनियों को कर्म का स्वातन्त्र्य नहीं है, अत: उनके कर्मों के नियन्त्रण की कोई बात ही नहीं है। जैसे सिंह हरिण को मारकर अपनी भूख मिटाता है यह उसका भोग ही है, और भी जैसे बन्दर किसान की फसल को उजाड़ रहा है या नीलगाय खेती को नष्ट कर रही है, ये सब भी इनके भोग ही हैं। किन्तु मनुष्य की श्रेणी सम्पूर्ण सृष्टि से अलग ही प्रकार की है। वह कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् में स्वतन्त्र है पर उसका फल अपनी इच्छानुसार लेना चाहे तो नहीं ले सकता, क्योंकि उसका व्यवस्थापक (वेदों में जिसे विधाता कहा है) अलग है। उसी को यहाँ ईश कहा है। वेदों में एक गीत अलग-अलग शब्दों में बार-बार गाया गया है कि उसके व्रतों को या नियमों को भंग करने का सामर्थ्य इस सम्पूर्ण त्रिलोकी में किसी में भी नहीं है। यह सामर्थ्य तब तो माना जा सकता था कि कोई अपनी इच्छानुसार कर्म करके फल लेने से मुकर जाता। जैसे सरकार के नियमों को तोड़ने पर चाहे कोई कितना

ही शक्तिशाली हो उसको दण्ड मिलता ही है, वह मना नहीं कर सकता। कदाचित् सरकार की आँखों से कोई बच भी जाए पर उसके कैमरे तो सब जगह लगे हैं, अत: उससे कोई नहीं बच सकता।

★ ★ ★

मीमांसक लोग वेद का मुख्य अर्थ विधि में बताते हैं। निषेध भी विधि का ही एक भाग हैं। संस्कृत में विधि को प्रकट करने के लिए विधि लिङ्, लोट्, लेट् तथा कृत्यप्रत्यय (तव्यत् तव्य-अनीयर्-यत्-क्यप्-ण्यत्) का प्रयोग होता है। इन चार स्थलों से अतिरिक्त जो वेदभाग है अर्थात् लट्-लिट्-लुट् लृट्-लङ्-आशीर्लिङ् लुङ्-लृङ् लकारों का जो प्रयोग मिलता है उसका विषय निर्देश ऐसा है कि– १. कहीं तो वह देवता (मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय) की स्तुति करने के लिए होता है जैसे कि **'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं'** (ऋ० १.३२.१) इस सूक्त में हुआ है। अर्थात् किसी अपने प्रिय के समक्ष मैं इन्द्र के पराक्रमों का महिमागान करता हूँ।२. कहीं किसी बड़े से आशीर्वाद लेने के लिए या अपने से छोटे को आशीर्वाद देने के लिए प्रयोग होता है। जैसे **सुचक्षा अहमक्षीभ्यां सुवर्चा मुखेन सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्-** अर्थात् हे प्रजापते! आप ऐसी कृपा कीजिए कि मैं आँखों से भला देखने वाला होऊँ, मुख से उत्तम कान्तिमान् होऊँ और कानों से अच्छा सुननेवाला होऊँ। ३. कहीं शपथ व अभिशाप प्रदान के लिए होता है। जैसे– **'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य। अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो'** (ऋ० ७.१०४.१५) अर्थात् हे इन्द्र राजन्! यदि मैं दूसरों को यातना देने वाला राक्षस होऊँ अथवा मैंने किसी मनुष्य का जीवन नष्ट किया हो तो मैं आज ही दण्ड का भागी होऊँ। (यह हुआ शपथ प्रयोग) और ४. अभिशाप जैसे– परन्तु जो मुझे व्यर्थ ही **'यातुधान!'** ऐसा कहता है वह अपनी दसों सन्तानों से वियुक्त हो जाए अर्थात् उसे कठोर कारावास में डाल दिया जाए कि अपने पुत्रों से भी न मिल सके। ५.कहीं किसी भाव (सत् अवस्था या सृष्ट्युत्पत्ति) की विवक्षा होती है। जैसे **'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे'** (ऋ०

१०.१२९.३) **न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि** (१०.१२९.२) सृष्ट्युत्पत्ति से पहले प्रलय रात्रि से सब कुछ आच्छादित था, यह सम्पूर्ण जगत् अज्ञायमान था, अपने सत्कारण में लीन था, इत्यादि। दूसरे मन्त्र में कहा– प्रलय अवस्था में न किसी कि मृत्यु थी न किसी का मोक्ष था। न रात्रि का ज्ञान था न दिन का इत्यादि। ६. कहीं किसी भावविशेष के कारण विलाप पाया जाता है। जैसे–

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

(ऋ० १.१६४.३७)

अर्थात् मैं नहीं जानता 'जैसा मैं यह हूँ'। तात्पर्य है दीर्घ अन्धकार में पड़ा हुआ मै नहीं जानता की मेरे आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है। परन्तु अपने स्वरूप से छुपा हुआ और अविद्या से बँधा हुआ मन आदि इन्द्रियों के साथ विचर रहा हूँ। अर्थात् इन्द्रियों के वशीभूत हुआ-हुआ तज्जन्य विषय भोगों में फंसा हुआ हूँ। अत: जब मुझे सत्य आत्मा का उत्कृष्ट अनुभव, आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान सम्यक्तया प्राप्त होगा, तभी मैं इस वेदवाणी के द्वारा भजनीय परमपुरुषार्थ को या वेदवाणी के प्रदाता इस जगदीश्वर के गुणांशों को प्राप्त कर सकूँगा। ७. कहीं किसी बात की निन्दा और ८. कहीं किसी बात की प्रशंसा की जाती है। जैसे निन्दा को दर्शाने वाला मन्त्र है–

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋ० १०.११७.६)

अर्थात् जो मनुष्य अन्नदान नहीं करता वह मूढ व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। हे मनुष्यो! यह सत्य सिद्धान्त है जो मैं कह रहा हूँ कि वह 'अन्न' दान न करने वाले का घातक ही है, क्योंकि जो मूढ़ अन्न से न किसी श्रेष्ठ विद्वान् का पोषण करता है और ना ही किसी अपने साथी का भरण करता है। वह एकाकी भोजी केवल पाप का भोगी होता है, पुण्य के किसी अंश का भोग नहीं कर सकता।

यहाँ इस उपर्युक्त मन्त्र में अन्नदान न करने वाले की निन्दा है। निम्न मन्त्र में दाता की प्रशंसा है–

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्याऽ३ शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥

(ऋ० १०.१०७.१०)

दूसरों की पालना करने वाला दाता जहाँ कहीं चला जाए, उसके लिए मनुष्य आशुगामी अश्व को अलंकृत करते हैं। पालक के लिए विवाह काल में शोभावती गुणवती कुमारी प्राप्त होती है। पालक का यह गृह, जो कि गृहस्थाश्राम में प्रवेश करने के साथ बना है, जैसे पुष्करिणी हंस पद्मादिकों से सुभूषित होती है वैसे अलंकृत तथा देवनिर्मित राजप्रसाद की तरह दर्शनीय होता है।

इसी प्रकार द्यूतसूक्त में छूत की निन्दा और कृषि की प्रशंसा है। जैसे द्यूतनिन्दा परक एक मन्त्र है–

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥

(ऋ० १०.३४.१०)

अर्थात् एक ओर तो कहीं मारे-मारे फिरते हुए जुवारी की स्त्री हीनावस्था को प्राप्त होती हुई दु:ख भोगती है और दूसरी ओर पुत्र की दुरवस्था को देखकर माता संतप्त होती है। फिर, वह ऋणी जुवारी धन की इच्छा से रात्रि के समय डरता हुआ अन्यों के घर में चोरी के लिए पहुँचता है।

कृषिप्रशंसापरक मन्त्र है–

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

(ऋ० १०.३४.१३)

अर्थात् द्यूत के निन्दित होने के कारण जूआ खेलने वाले! तू जूआ मत खेल, परन्तु खेती कर। कृषिजन्य धन को बहुत मान कर उसी धन में

आनन्दित रह। ऐ जुआरी! उस कृषि में गवादि धन है और उसी में पतिव्रता स्त्री की प्राप्ति है तथा गृहस्थ सुखधाम बनता है। इस सत्य सिद्धान्त को, इस सर्वप्रसिद्ध सकलजगदुत्पादक सर्वप्रेरक सर्वस्वामी ने मुझे कहा है– ऐसा तू समझ।

इस प्रकार ऋषियों को अनेकविध अभिप्रायों से युक्त मन्त्रों के दर्शन होते हैं। 'मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए' इस विषय में ऊर्ध्वारोहण के प्रथम कदम से लेकर जीवन की उच्चतम अभीप्सा को लक्ष्य कर उन्हें जो सत्य-दृष्टि प्राप्त हुई, उसी के आलेख हैं 'वेद-मन्त्र'। ईशोपनिषद् के प्रथम व द्वितीय इन दो मंत्रों में ही वह सम्पूर्ण विषय आ गया है जो एक सचेतन मनुष्य के लिए अपेक्षित है। मनुष्य को जो सबसे आवश्यक बात अपने भीतर बिठाकर रखनी है, वह यह है कि यह जगत् स्वामिविहीन नहीं है, इसलिए मैं कभी भी किसी भी अवस्था में अनाथ नहीं हूँ। जो जगत्पत्ति है, जगत् का स्रष्टा पालक व पोषक है, वही मेरा भी स्रष्टा है, पालक व पोषक है। उसके प्रति मेरा एक ही कर्तव्य रह जाता है कि मैं उसके अस्तित्व को हृदय से स्वीकार करूँ, उसके समक्ष प्रणत हो जाऊँ, उसके विधान को कभी भी भंग न करूँ, उसे सदा अपना शास्ता मानता रहूँ, उसे कभी भी न भूलूँ, उसके प्रति अपने हृदय के प्रेम को नित्य अर्पित करता रहूँ। उसके द्वारा सदा ही अपने को सुरक्षित अनुभव करता रहूँ। उसके प्रति मेरी श्रद्धा-भक्ति-प्रेम अखण्ड हो जाएँ, किसी भी अवस्था में मेरी श्रद्धा में दरार न पड़े। उसी के सौन्दर्य-ऐश्वर्य-माधुर्य पर मुग्ध रहूँ, संसार की चमक से मेरी आँखे कभी भी चुँधिया न जाएँ। उसके रस से बढकर और कोई भी चीज रसीली प्रतीत न हो। न तो उसके रस से कभी अरुचि हो न ही अपूर्ति हो। सदा नित्य नवरस की यह धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रहे।

★ ★ ★

ईश्वर के साथ सम्बन्ध, उसके प्रति प्रेम व समर्पण में, उसी को अपना सर्वस्व स्वीकार करने में, उसी की छत्र-छाया में अपना कल्याण समझने में,

उसी के लिये जीने व मरने में, उसी को अपना मालिक, स्वामी, पालक समझने में, अन्ततः उसके अस्तित्व को स्वीकार करने में एक ही बाधा है, मूलतः वह बाधा एक ही है किन्तु अलग-अलग प्रसङ्गों में उसको अलग-अलग नामों से कह दिया जाता है। उसी एक बाधा का सारा का सारा विस्तार है।

यहाँ एक बात समझनी बहुत ही आवश्यक है कि ईश्वर कोई ऐसा तत्व नहीं है जो किसी को भी अप्राप्त हो। इस सिद्धान्त की जितनी महिमा गाई जाए उतनी ही थोड़ी है कि ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर चलने वाले किसी भी साधक के द्वारा अप्राप्त ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जाता, बल्कि सदा प्राप्त को ही प्राप्त किया जाता है। बाधा के कारण जो ईश्वर की उपलब्धि अनुभव में नहीं आ रही, उसके हटते ही कहीं दूर दिखाई देने वाला ईश्वर निकट हो जाता है। या जो बाधा के कारण ही अप्राप्त महसूस हो रहा था वह सदा के लिए प्राप्त हो जाता है अर्थात् सर्वथा अननुभूत ईश्वर अनुभूत हो जाता है। और यह भी एक बात अच्छे से समझ लेनी चाहिए कि यह बाधा कोई ऐसी चीज नहीं है कि हटाई ही न जा सके अर्थात् यह कोई असम्भव कार्य नहीं है। यदि यह असम्भव कार्य होता तो हटाने के लिए उपदेश करना ही व्यर्थ हो जाता। सांख्य सूत्रों में कहा है–

'नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः' (सां० १.९)।

शास्त्रकार कभी भी असम्भव बातों का उपदेश नहीं करते, क्योंकि फिर तो उपदेश करने पर भी उसके अचरितार्थ होने से अनुपदेश ही बना रहता। अतः इस उपर्युक्त विचारणा में दो बातें हमारे सामने उपस्थित हुई कि जिस ईश्वर ने सब कुछ को आच्छादित किया हुआ है जो सब में बसा हुआ है वह किसी भी साधक को अप्राप्त नहीं है, वह पहले से ही मनुष्य मात्र को प्राप्त है, सूर्य जैसे बादलों की ओट होने से दिखाई नहीं देता वैसे ही ईश्वर बाधा के कारण छुपा है। बादलों के हटते ही जैसे सूर्य दिखाई देने लगता है वैसे ही ईश्वरानुभव को रोकने वाली बाधा के हटते ही ईश्वर भी अनुभव में आ जाता है।

भला कौन सी है वह बाधा, जिसने हमको ईश्वरानुभूति से वञ्चित कर रखा है? 'सांसारिक भागों की आसक्ति', यहाँ यह समझने की बात है कि तत्त्वत: सांसारिक भोग बाधा नहीं हैं, उनकी आसक्ति बाधा है। सांसारिक भोग क्या हैं? जो भी हमारी ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों (बाह्य करणों) तथा मन-बुद्धि-अहंकार (अन्त:करणों) को एक विशिष्ट संवेदना का अनुभव होता है वही भोग है। करणों (उभयविध करणों=बाह्य करणों व आभ्यन्तर करणों) का तो यह कार्य ही है कि वे जो चीज जैसी है उसकी सूचना आत्मा तक पहुँचा दें। जैसे आँख जो भी रूप है सुरूप-कुरूप रूपमात्र को वह आत्मा को दिखा दे; त्वचा उष्ण व शीत स्पर्श अथवा कोमल व कठोर स्पर्श का अनुभव करा दे; जिह्वा मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय इन षड्रसों का अनुभव या स्वादु-अस्वादु का ज्ञान करा दे; नासिका सुगन्ध-दुर्गन्ध का बोध करा दे; कान भी कोमल शब्द या कर्कश शब्दों का बोध करा दें; मन-बुद्धि भी सम्मान-अपमान, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, जीवन-मरण, सुख-दु:ख, हर्ष-शोक, उत्कर्ष-अपकर्ष (उन्नति-अवनति), सफलता-विफलता, जय-पराजय, अहंरहित (निरहं) व अहंसहित अवस्था का ज्ञान करा दें। अब आगे करणों के माध्यम से प्राप्त संवेदानाओं को, अनुकूल-प्रतिकूल (अच्छा-बुरा) ये दो नाम रखते हुए दो भागों में विभाजित करके अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण, अनुकूल को प्रिय और प्रतिकूल को अप्रिय, अनुकूल को अपना इष्ट और प्रतिकूल को अनिष्ट, अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष के रूप में अन्तहीन संघर्ष का सिलसिला चालू हो जाता है, इसी का नाम है 'सांसारिक भोगों की आसक्ति'। यही वह बाधा है जो ईश्वर और हमारे बीच में उपस्थित होकर ईश्वर का अनुभव नहीं होने देती। भोगों की आसक्ति के रहते व्यक्ति का मन व्यर्थ चिन्तन व अनावश्यक संकल्पों से मुक्त नहीं हो सकता, ऐसा मन सतत भूत-भविष्यत् में ही उलझा रहता है। भोगों में आसक्त मन कभी भी सन्तोष को धारण नहीं कर सकता, निरन्तर अपने से ऊपर वाले को देखता

हुआ उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर भोगों की चाहना करता रहता है। चूँकि भोगों के मार्ग पर चलने वाले सभी लोग अपने-अपने स्तर पर अधिकाधिक भोगों का संग्रह करना चाहते हैं, अत: उन सब के बीच एक प्रचण्ड स्पर्द्धा का वातावरण तैय्यार हो जाता है। स्पर्द्धा में डूबे हुए व्यक्ति को न शान्ति मिलती है, न सुख मिलता है, और न ही किसी प्रकार का चैन मिल पाता है।

जब तक व्यक्ति को मन का विश्राम प्राप्त नहीं होता तब तक वह अध्यात्म के नाम पर कुछ भी करे– अच्छी से अच्छी पुस्तकें पढे, प्रवचन करे, दूसरों के साथ शास्त्रीय चर्चा करे, धन कमा-कमा कर खूब सारा दान करे, यह सब व्यर्थ तो नहीं जायेगा, कालान्तर में इसका उत्तम परिणाम होगा ही, पर मन के विश्राम के बिना 'भूतकाल व वर्तमान की समस्याओं से मुक्ति' ये दो काम नहीं हो सकते। और जब तक व्यक्ति भूतकाल के संस्कारों से और वर्तमान के आवेगों से मुक्त नहीं हो जाता तब तक ईश्वरीय अनुभूतिविषयक (ईशावास्यमिदं सर्वं) यह मन्त्र का संदेश चरितार्थ नहीं हो सकता। अत: मन्त्र में मुक्त जीवन की राह दिखाते हुए कहा गया– **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'** अर्थात् भोगों को भोगो, पर त्यागपूर्वक। भोगों को भोगते समय बस एक ही सावधानी रखनी है कि राग-द्वेष बीच में न आए। अर्थात् उन-उन भोगों को भोगते हुए अनुकूल-प्रतिकूल प्रिय-अप्रिय इस नामकरण करने से अपने को बचाओ। यदि यह सिद्ध हो जाता है तो तुम में अनासक्ति घटित हो जाएगी। गीता में भी भगवान् ने ठीक यही बात कही है–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।

अर्थात् इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु हैं। गीता का यह श्लोक और 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:' यह मन्त्रवचन इन दोनों का एक ही सन्देश है कि भोगों को भोगते समय यदि राग-द्वेष पूर्वक उन्हें

भोगा जाएगा तो चित्त निश्चितरूपेण उस-उस भोग के संस्कार से रंगा जाएगा और पुनः-पुनः उसकी स्मृति आती रहेगी, इस प्रकार अनन्तकाल तक भी चित्त भोगों की आवृत्ति से मुक्त नहीं होगा, चित्त में निर्वासना घटित नहीं होगी। ऐसी स्थिति में चित्त कभी भी अकाम (अचाह) नहीं हो सकेगा। अकाम नहीं होगा तो अपने द्वारा अपने में सन्तुष्ट नहीं हो सकेगा। असन्तुष्ट चित्त पराश्रय का त्याग नहीं कर सकेगा। अर्थात् अपनी कामना-वासना को पूर्ण करने के लिए पर का आश्रय लेता रहेगा। जिसके परिणाम स्वरूप कभी भी स्वाधीन नहीं हो सकेगा।

जो व्यक्ति भोगों को त्यागपूर्वक अर्थात् अनासक्ति के साथ नहीं भोगते तो उसका सुनिश्चित परिणाम होता है 'सुख-भोग की रुचि बढते जाना'। सुख-भोग एक ऐसी प्रक्रिया है कि उस की रुचि व्यक्ति को पराधीनता में बाँध देती है। व्यक्ति अपनी उस रुचि पूर्ति के लिए पराधीनता को सहन कर लेता है। इस प्रकार वह कैसे भी बाह्य साधनों को बढाने में इतना बेवश हो जाता है कि धर्म-अधर्म का विचार उससे छूट ही जाता है। अन्याायपूर्वक भी भोग संग्रह में उसे कोई पश्चाताप, ग्लानि या छटपटाहट नहीं होती। ऐसे व्यक्ति के लिए आत्मा-परमात्मा की खोज खपुष्प जैसी चीज हो जाती है। वेदाचार्य भगवान् मनु ने भी कहा है–

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।।

धर्मतत्त्व अर्थात् जीवन के आधारभूत नियमों को जो जानना चाहते हैं, उस से भी आगे बढकर उन नियमों के भी अधिष्ठान मूल सत्य को खोजना चाहते हैं, उनके लिये श्रुति परम प्रमाण है। जैसा कि उन समस्त ऋत नियमों के अधिष्ठान मूल सत्य की ओर अथर्व० का १० सू० ८ मंत्र ३७ में संकेत किया गया है–

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्।।

किन्तु इस खोज के वे ही लोग अधिकारी होते हैं जिनका मन बाह्य साधन-सुविधाओं में और कामसुख में फँसा हुआ नहीं है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ये मनुष्य जीवन के चार प्राप्तव्य विषय हैं। ईशोपनिषद् के प्रारम्भिक दो मन्त्रों में एक प्रकार से इन चारों पुरुषार्थों का कथन हो गया है। **'ईशावास्यमिदं सर्वं०'** इस प्रथम वाक्य से 'मोक्ष' का साधन बता दिया। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** के द्वारा 'काम' पुरुषार्थ के सच्चे स्वरूप को दर्शाया कि त्याग के साथ भोग। किसी भी अध्यात्म साधक को ऐसी युक्ति सीखनी है कि भूतकाल के प्रति हर क्षण मरते जायें। जैसे आकाश में उड़ते हुये पक्षी का कोई चिह्न पीछे नहीं रहता, पानी में तैरती हुयी मछली की भी वही स्थिति है, वैसे ही भोग का कोई भी संस्कार चित्तरूपी भूमि पर छाप के रूप में न पड़े। जब किसी भी साधक का भोग लक्ष्य नहीं होता तो ऐसा हो पाना सम्भव है। अर्थात् जब किसी ने अपने जीवन का लक्ष्य अमृतत्व, स्वाधीनता, योग, परमशान्ति, परमविश्राम, परमप्रेम को बना लिया तो वह भोगों में अटकता नहीं। अपने आप को भुलाकर भोागों को नहीं भोगता इसलिये उन समस्त भोगों से असंग या निर्लिप्त बना रहता है। आसक्ति पूर्वक भोगों को भोगने वाला कभी भी ऐसा नहीं कर सकता। मन यदि वर्तमान में उपस्थित रहना सीख ले तो भूतकाल से मुक्त होकर जीना कठिन नहीं है।

'भुज' धातु के पाणिनि ने दो अर्थ बताए हैं– भोजन (भोग करना) व पालन। किन्तु भुजोऽनवने (अ० १.३.६६) सूत्र के द्वारा व्यवस्था देते हुए यह भी कह दिया, कि 'भोग करना' इस अर्थ मे आत्मनेपद होता है और 'पालन करना' अर्थ में परस्मैपद। लेकिन ये सब भाषा के नियम निरपवाद रूप से वैदिक भाषा पर लागू नहीं होते अर्थात् लोकभाषा के नियम वेद में व्यभिचरित भी हो जाते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** यहाँ 'भुञ्जीथाः' पद में आत्मनेपद होते हुए भी 'पालन' अर्थ लिया जा सकता है। अतः इस परिप्रेक्ष्य में मन्त्र के उक्त वाक्य का अर्थ होगा कि 'क्योंकि ईश्वर से सब कुछ आच्छादित है अतः त्याग के द्वारा

अपने आत्मा की रक्षा करो'। यदि कोई यह पूछे कि 'ईश के द्वारा सब कुछ का आच्छादित होना और त्याग के द्वारा अपनी आत्मा की रक्षा करना' इन दोनों कथनों में कारण-कार्यसम्बन्ध क्या है? कारण- कार्यसम्बन्ध यही है कि वस्तु-व्यक्ति-विचार में अपना ममत्व रखने पर आत्मा रक्षित नहीं हो पाता, आत्मा की रक्षा बन्धन मुक्त रहने में ही मानी जा सकती है। अनात्म में अहंभाव या ममभाव कर लेना यही तो बन्धन है अर्थात् अविद्या अन्धकार रूप बन्धन का मूल यही ममत्व है। जैसा कि कहा है–

अहं ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वः प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित्।।

अतः साधक जब ईश को ही अपना और जगत् का ईशिता मान लेता है तो उसका वस्तु-व्यक्ति-विचार के साथ ममत्व का सम्बन्ध सहज रूप से छूट जाता है। अर्थात् वह देखने लगता है कि किसी भी वस्तु-व्यक्ति-विचार के साथ किसी का भी सीधा सम्बन्ध या स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं है, यदि कोई सम्बन्ध है भी तो वह ईशिता के माध्यम से ही है। समस्त वस्तु-व्यक्ति-विचार का असली मालिक तो वही ईश (=ईशिता) है, फिर उसके नाते किसी भी वस्तु-व्यक्ति के साथ किसी का कोई सम्बन्ध होता है। दोनों ही अर्थों में अर्थात् त्यागपूर्वक भोग करो या त्याग के द्वारा अपने आत्मा की रक्षा करो, तात्पर्य तो लगभग समान ही है कि भोगों को आसक्तिपूर्वक मत भोगो।

'अर्थ' नामक पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिये मन्त्र का अन्तिम वाक्य है– **'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।'** लोभ अर्थ को अशुचि कर देता है। जैसे आसक्ति न होने पर भोग बन्धन नहीं वैसे ही धन में लोभ का भाव प्रविष्ट नहीं होता तो धन भी किसी के लिये बन्धन नहीं। बैंक-कैशियर के लिये धन कहाँ बन्धन बनता है? अतः मन्त्र में कहा किसी के भी धन का लालच मत कर। अर्थात् तुम्हारे प्रारब्ध और पुरुषार्थ से जो तुम्हें मिले उसी को तुम अपना समझो। गलत रास्ता अपना कर धन बढाने के लालच को छोड़ दो। इस विषय में मनु का संदेश है–

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।।

(मनु० ५.१०६)

कोई अपने घर को, वस्त्रों को स्थान को तो शुद्ध रखता है पर धन की शुचिता का ध्यान नहीं रखता तो उसके लिये यह कहा गया कि सभी शुचिताओं में अर्थ की शुचिता सर्वश्रेष्ठ है। जो लोग व्यापार में मिलावट करते हैं, बहुत अधिक लाभ लेना चाहते हैं, काम कम करके अधिक वेतन पाना चाहते हैं, रिश्वत लेकर काम करते हैं, झूठे कागजात तैय्यार करके सरकार या किसी N.G.O. आदि से धन लेते रहते हैं, रिश्वत देकर कोई अपना बड़ा लाभ पाना चाहते हैं, मकान आदि बनाते समय डीड्स के अनुसार काम नहीं करते– ये सभी लोग धन के लोभ में ही तो ऐसा करते हैं। श्रुति इन सबको चेतावनी दे रही है **'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'।**

यहाँ यह विशेष ध्यान देने की बात है कि श्रुति ने लालच त्याग की जो बात कही है वह मन में से उस वासना को अर्थात् अनधिकारपूर्वक लेने की भावना को छोड़ने के लिए कहा है, केवल पदार्थों का स्थूल त्याग या बाह्य त्याग पर्याप्त नहीं है। एक कहावत है कि सब पापों की जड़ 'लोभ'। व्यापक स्तर पर देखा जाए तो एक लोभ का मन के स्तर पर भी त्याग होते ही जीवन दिव्य बनना शुरू हो जाता है।

★★★

(२) मनुष्य का करणीय और प्रापणीय

ऋषिः- परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता- सविता। छन्द- स्वराड् बृहती, ब्राह्म्युष्णिक्।

॥ओ३म्॥ इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ वा॒यव॑ स्थ दे॒वो व॑: सवि॒ता प्रार्प॑यतु श्रे॒ष्ठत॑माय॒ कर्म॑ण॒ऽआप्या॑यध्वमघ्न्या॒ऽ इन्द्रा॑य भा॒गं प्र॒जाव॑तीरनमी॒वाऽ अ॑यक्ष्मा मा व॑ स्ते॒नऽई॑शत॒ माघ॑शꣳसो ध्रु॒वाऽअ॒स्मिन् गोप॑तौ स्यात ब॒ह्वीर्यज॑मानस्य प॒शून् पा॑हि॥१.१॥

परमेष्ठी प्रजापति ऋषि कहता है (मन्त्र का द्रष्टा 'ऋषि' होता है और जिस विषय का उसने दर्शन किया वह 'देवता' कहलाता है, जैसे प्रकृत में अपने परम स्वरूप में स्थित प्रजापति ऋषि है और वह सविता की स्तुति-प्रार्थना व उपासना एक विशेष छन्द में कर रहा है)- सबका उत्पादक सविता देव (त्वा) तुझ मनुष्य को (इषे) अन्न, इच्छाशक्ति व विज्ञान (विशेष ज्ञान) की प्राप्ति के लिए (इष् प्रेरणे, to impel, to urge, to incite, to animate) प्रेरित करे। (त्वा) तुझको (ऊर्जे) वही सविता देव ऊर्जा, बल, उत्साह की प्राप्ति के लिए (ऊर्ज बलप्राणनयोः) प्रेरित करे। (वायवः स्थ) हे मनुष्यो तुम प्राण[१] हो, जीवन ही तुम्हारा स्वरूप है, तुम मिट्टी के लोथड़े नहीं हो। (सविता[२] देवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु) सबका स्रष्टा सविता देव तुम लोगों को श्रेष्ठतम कर्म[३] के लिए प्रेरित करे, तुम्हें अपने स्वयं के तथा सुन्दर समाज के निर्माण में लगा दे। (आप्यायध्वम्) हे मनुष्यो! तुम बढ़ते जाओ (ओप्यापी

---

१. वायुर्वै प्राणः, कौ० ब्रा०- ८.४; जै० उ० ब्रा०- ४.२२.११; श०- ४.४.१.१५; वायुर्हि प्राणः; ऐ० ब्रा०- २.२६.३.२; वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्, यजु०- ४०.१७।

२. प्रजापतिर्वै सविता, तां० ब्रा०- १६.५.१७ प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत। तै० ब्रा०- १.६.४.१ सविता वै देवानां प्रसविता (श०-१.१.२.१७)

३. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म, श०- १.७.१.५।

वृद्धौ) क्रियाशीलता के द्वारा निरन्तर उन्नति करते रहो। (इन्द्राय भागम्) इन्द्रत्व अर्थात् परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए अपना भाग इन्द्र को अर्पित करो (दानं दारिद्र्यनाशनम्) सर्वजनहित में अपना अंश प्रसन्नतापूर्वक लगाओ। हे मनुष्यो! तुम स्वयं और तुम्हारी सन्तति (प्रजावतीः) उत्तम प्रजा से युक्त (अनमीवाः) रोगमुक्त (अयक्ष्माः) क्षयरोगरहित हो (अघ्न्याः) तुम्हारी शक्तियाँ क्षीण न हों, कोई भी आन्तरिक या बाह्य शत्रु तुम्हारा वध न कर सके। तुम स्वयं भी अपना नाश न करो और न ही कोई अन्य तुम्हें नष्ट कर सके। (स्तेनः वः मा ईशत) इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं- एक तो चोर अर्थात् चोरभाव तुम्हारे ऊपर शासन न करे और दूसरा चोर-डाकू दुराचारी व भ्रष्टाचारियों का तुम्हरे ऊपर शासन न हो। संस्कृत भाषा का ऐसा नियम है कि त्वतलादि भावप्रत्यय शब्द के साथ जोड़े बिना भी वह शब्द ही भावप्रत्यय के अर्थ को दे देता है। अतः प्रकृत में बिना श्रम के धन प्राप्ति की इच्छा भी 'स्तेन' है जिसे 'स्तेय' कहते है। यह इच्छा (Horse races, Lotteries, Crossword puzzles) तथा विविध प्रकार के सट्टों (Speculations) के रूप में या रिश्वतखोरी, वस्तुओं में मिलावट, कामचोरी आदि के रूप में प्रकट होती है। (मा अघशंसः) पाप का अनुमोदन करने वाला भी तुम्हारा स्वामी न हो। कितने ही लोग हितैषी बनकर अपने मित्रों को ऐसी अनुचित सलाह देते रहते हैं कि ऐसा कर लो ऐसा हो जाएगा, उन्हें ही यहाँ 'अघशंस' शब्द से कहा है। तुम्हारे दिल-दिमाग पर उस पापमार्ग की महिमा का बखान करने वाले हितशत्रु का असर न हो, भोग की रुचि को लेकर कभी भी धर्म-मार्ग का त्याग न हो, अपितु पुण्य की रुचि को लेकर धर्म-मार्ग में ही स्थित रहो, (अस्मिन् गोपतौ ध्रुवाः स्यात) इस गोपति के आश्रय में स्थिर होकर रहो। 'गो' शब्द संस्कृत में बह्वर्थक है- गाएँ, वेदवाणी, पृथिवी, इन्द्रियाँ इन सभी को 'गो' कहते हैं। अर्थात् गोपालक, विद्वान्, श्रेष्ठ राजा तथा जितेन्द्रिय पुरुष ये सब गोपति हुए, उनके समीप उनके आश्रय में तुम्हारा स्थिर आवास रहे। (बह्वीः

स्यात) अधिक से अधिक संख्या में बढ़ते रहो। अर्थात् अधिक से अधिक प्राणियों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करो। तुम्हारे अपने विचार के अपने गुण-कर्म-स्वभाव के बहुत सारे साथी हों। हे ईश्वर! (यजमानस्य[१] पशून्[२] पाहि) यज्ञ करने वाले के पशुओं की रक्षा करो। आत्मा रूपी यजमान के इन्द्रिय रूपी पशुओं को उच्छृंखल मत होने दो। अथवा दूसरा यजमान है- यज्ञ करने वाला याजक और उसके पास गौ, बछड़े आदि पशु हैं, उन सबका संरक्षण होता रहे। तीसरा यजमान है प्रजापालक नरेश ' यजमानो ह्येव .....प्रजापतिः (श०- १.६.१.२०) राष्ट्र में प्रजाओं का पालन करने हारा नरेश यजमान स्वरूप है और वह (राष्ट्रं वा अश्वमेधः। श०- १३.१.६.३; तै०- ३.८.९.४) राष्ट्ररूपी अश्वमेघ का अनुष्ठान करता है। इस यजमान का जो राष्ट्रीय महायज्ञ चलता है, उसमें विभिन्न राष्ट्रकार्य करने के लिए जो अधिकारी नियुक्त हैं वे पशु हैं; क्योंकि वे कभी-कभी रिश्वत आदि लेकर पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं, इस कारण उनके लिए भी प्रार्थना की गई है कि हे परमेश्वर! यजमान के पशुओं की उन्हें सद्बुद्धि देकर या यजमान को ही उनके नियन्त्रण की शक्ति देकर उनकी रक्षा करो।

यजुर्वेद का यह पहला मन्त्र है। यजुर्वेद क्रतुवेद है। यहाँ प्राधान्येन कर्म का वर्णन है। मनुष्य के भाव, संकल्प कैसे होने चाहिए। किन चीजों को उसे महत्त्व देना चाहिए और किन्हें निषेध कोटि में रखना चाहिए और किन से उदासीन रहना चाहिए, ये सब बातें हमें वेदों से पता चलती हैं। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध कराने वाली धर्मपुस्तक या ज्ञान की पुस्तक का नाम वेद है। मन्त्र के व्याख्यान में हम देख सकते हैं कि मनुष्यों के हितार्थ किन-किन बातों की तरफ ध्यान दिलाया गया, जीवन में क्या-क्या चीजें प्राप्त करनी हैं, किन लोगों की संगति में सतत बने रहना है, किन-किन से अपने को

१. आत्मा वा यजमानः (कौ०ब्रा०- १७.७; गो० ब्रा०उ०- ५.४)
२. इन्द्रियाणि पशवः (नू.पू.उ.- १.४)

बचाकर रखना है और साथ में सदा आन्तरिक बल व उत्साह से ओत-प्रोत रहने की भी प्रेरणा दी गई।

यहाँ एक बात अवश्य ध्यान देने की है कि श्रोता के भेद से व्यावहारिक व आध्यात्मिक दोनों ही स्तरों से बात कही गई है। जैसे 'यजमान' आत्मा भी है और कोई बाह्य यज्ञ करने वाला भी। इसी प्रकार 'गोपति' गोपालक भी है और कोई विद्वान् या राजा या कोई जितेन्द्रिय पुरुष भी है। 'श्रेष्ठतम कर्म' भौतिक रूप में जिन यज्ञों का सम्पादन किया जाता है वे भी हैं और आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो जो किसी भी प्रकार की अहं तृप्ति के लिए नहीं बल्कि जो उस परम प्रभु को अपनी आहुति के रूप में अर्पित किए जाते हैं वे हैं श्रेष्ठतम कर्म। जो भाग तुम्हें मिला है या मिलता है उसे इन्द्र की सेवा में अर्पित करो यहाँ 'इन्द्र' कोई राष्ट्राध्यक्ष भी हो सकता है और परमेश्वर भी। भौतिक व आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से अवध्य (अघ्न्या:) व रोगरहित (अनमीवा:) हो सकते हैं। उत्तम प्रजाएँ (प्रजावती:) भौतिक रूप से सबको ज्ञात हैं, उत्तम शील आदि गुणों के रूप में आध्यात्मिक प्रजा हुआ करती हैं, तप से जिनकी उत्पत्ति होती है।

अब हम महर्षि दयानन्द के द्वारा किया गया इस मन्त्र का अर्थ प्रस्तुत कर रहे हैं, यहाँ हम मन्त्रार्थ के प्रवाह के लिए मन्त्रगत पदों का अर्थ पहले दे रहें हैं तथा उन पदों को कोष्ठक में पश्चात् लिख रहे हैं-

(१) हे मनुष्यो! यह जो सब जगत् की उत्पत्ति करने वाला सम्पूर्ण ऐश्वर्य युक्त (=सविता) सब सुखों के देने और सब विद्या के प्रसिद्ध करने वाला परमात्मा है (=देव:[१]) वह, तुम्हारे व हमारे (=व:) सब क्रियाओं को सिद्ध करने हारे जो प्राण, अन्त:करण व इन्द्रियाँ हैं (=वायव:[२] स्थ) उनको श्रेष्ठतम कर्म में अर्थात् अत्युत्तम करने योग्य सर्वोपकारक यज्ञादि कर्मों

१. सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याद्योतक:। देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देव: सा देवता- नि०- ७.१५।

२. गच्छन्ति विविधेषु विषयोष्विति वायव:, प्राणादय:, इन्द्रियाणि वा।

में अच्छे प्रकार संयुक्त करे [=श्रेष्ठतमाय कर्मणे (प्रकृष्टतया संयोजयतु, प्रेरयतु)]। (२) हम अन्न आदि उत्तम उत्तम पदार्थों और विज्ञान की प्राप्ति तथा उत्तम इच्छा के लिए (=इषे) पराक्रम अर्थात् उत्तम रस की प्राप्ति के लिए (=ऊर्जे[१]) सेवन करने योग्य धन और ज्ञान से भरे हुए (=भागम्[२]) श्रेष्ठ पराक्रमादि गुणों के देने हारे आपका (=त्वा) सब प्रकार से आश्रय लेते हैं (यहाँ 'आश्रयाम:' इस पद का अध्याहार है)। (३) हे मनुष्यो! तुम भी ऐसे होकर उन्नति को प्राप्त होओ (=आप्यायध्वम्) तथा हम भी उन्नत हों। (४) हे भगवान् जगदीश्वर! हम लोगों के परम ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (=इन्द्राय) जिनके बहुत सन्तान हैं (=प्रजावती:) जो व्याधि से रहित हैं (=अनमीवा:) जिनमें राजयक्ष्मा आदि रोग भी नहीं हैं (अथर्ववेद कां० ८ सू० ७ यक्ष्ममोचन सूक्त है, वहाँ यह बताया है कि यक्ष्मरोग के परमाणु गायों में शीघ्र प्रविष्ट हो जाते हैं, विशिष्ट घासादि खाद्यपदार्थ से गायों का यक्ष्म नाश होता है। आयुर्वेद में यह भी कहा है गोमांस मनुष्य के लिए अत्यन्त हानिकर है) (=अयक्ष्मा:) तथा जो-जो गौ आदि पशु हैं या जो उन्नति करने योग्य साधन हैं, जिनकी सदा वृद्धि करनी चाहिए जो कभी हिंसा करने योग्य नहीं हैं तथा जो इन्द्रियाँ या पृथिवी आदि लोक हैं (=अघ्न्या:[३]) उनको सदैव प्राप्त कराइये (=प्रार्पयतु) (५) हे जगदीश्वर! आप की कृपा से हम लोगों में दु:ख देने के लिए कोई पापी (=अघशंस:[४]) अथवा चोर, डाकू (=स्तेन:) मत उत्पन्न हो (=मा ईशत[५]) अथवा शासन करने वाला न हो (=मा ईशत[६]) तथा (६) आप, इस परमेश्वर और सर्वोपकार रूप धर्म के सेवन करने वाले मनुष्य के

---

१. 'उत्साहेऽन्नरसेऽप्यूर्क् स्यात्' वैजयन्तीकोश।
२. सेवनीयं, भगानां धनानां ज्ञानानां वा भाजनम्।
३. वर्धयितुमर्हा हन्तुमनर्हा गाव इन्द्रियाणि पृथिव्यादय: पशवश्च।
४. योऽयम् अघं पापं शंसति स:।
५. मोत्पद्यताम्।
६. मा ईष्टां 'ईशत' लोडर्थे लङ्, मा समर्थो भवत्वित्यर्थ:।

(=यजमानस्य[१]) गौ, घोड़े, हाथी आदि तथा लक्ष्मी और प्रजा की (=पशून्[२]) निरन्तर रक्षा कीजिए (=पाहि), (७) जिससे इन पदार्थों के हरने में कोई दुष्ट मनुष्य समर्थ न हो (=मा ईशत)। (८) इस धार्मिक, पृथिवी आदि पदार्थों की रक्षा करने वाले सज्जन मनुष्य के समीप (=अस्मिन् गोपतौ) बहुत से उत्तम पदार्थ निश्चल सुख के हेतु हों (=बह्वी: ध्रुवा: स्यात)।

★★★

(३) यज्ञ का प्रवाह अथवा कुटिलता-त्याग

ऋषि:-परमेष्ठी प्रजापति:। देवता- यज्ञ। छन्द:- स्वराडार्षी त्रिष्टुप्।

वसो: पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोसि विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्॥१.२॥

उत्तमकर्मों की सिद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए, ऐसा पूर्वमन्त्र में कहा। वह श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है। वह यज्ञ कैसा होता है, उसका स्वरूप बताने के लिए यह मन्त्र है- 'यज्ञो वै वसु:' (श०- १.७.१.९,१४) इस वचन से 'वसु' यह शब्द 'यज्ञ' इस अर्थ का वाचक है। वासयतीति वसु:, अथवा वसन्त्यस्मिन्निति वसु: या वस्यत आच्छाद्यतेऽनेनेति वसु:। बसाना प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर यह शब्द प्रवृत्त हुआ है। बसाने में सहायभूत होने से वसु शब्द यज्ञ अर्थ को प्रदान कर रहा है। यज्ञ का काम बसाना है। यज्ञ शब्द धात्वर्थ के अनुसार तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है- एक तो इस लोक और परलोक के सुख के लिए विद्या, ज्ञान और धर्म के सेवन से जो वृद्ध हैं

१. य: परमेश्वरं सर्वोपकारं धर्मं च यजति तस्य विदुष:। यद् यजते तद् यजमान:। श०- ३.२.१.१७

२. गोऽश्वहस्त्यादीन् श्रिय: प्रजा वा। श्रीर्हि पशव:। श०- १.८.१.३६। प्रजा वै पशव:। श०- १.६.१.१७। पशवो वैराय:। श०- ३.३.१.८

अर्थात् बड़े-बड़े विद्वान् हैं उनका सत्कार करना। दूसरा अच्छे प्रकार पदार्था के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से शिल्पविद्या का प्रत्यक्ष करना और तीसरा विद्वानों का नित्य समागम करना अथवा विद्या सुख धर्म और सत्यादि शुभ गुणों का नित्य दान करना है[१]। ये तीनों ही कर्म सृष्टि को चालू रखने के लिए उपयोगी हैं।

मन्त्रगत पवित्रशब्द का अर्थ है पुनातीति पवित्रम्, पूयतेऽनेनेति पवित्रम्। पूञ् धातु से कर्ता या करण कारक में यह शब्द सिद्ध होता है। वेद में एक सिद्धान्त मान्य हुआ है- 'अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः' इसी को व्याकरण में व्यत्यय (Interchange of rule) भी कह देते हैं अतः पहला वाक्य बना- वसुः पवित्रमस्ति। 'पवित्रम्' यहाँ 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियम से नपुंसकलिङ्ग है, अर्थात् यज्ञ पवित्रता करने वाला है अथवा यज्ञ पवित्रता का साधन है। यज्ञ शब्द के हमने जो ऊपर अर्थ दिए हैं उनके अनुसार यज्ञ का काम है शुद्धि करना। 'धृत-सामग्री-समिधा-यजमान-पुरोहित-मन्त्र' इन सब के मेल से जो अग्निहोत्र रूप यज्ञ होता है, वह शुद्धिकारक है, शुद्धि का साधन है यह सर्वविदित तथ्य है। विद्वान् आचार्य जो अध्ययन-अध्यापन रूप यज्ञ करते हैं, वे अज्ञानियों के अज्ञान को हटाकर पवित्रता (शुद्धि) का हेतु बनते हैं। वृद्धों का सत्कार रूप यज्ञ से जो उनकी ओर से आशीर्वाद मिलता है, उससे व्यक्ति में इन्द्रियजय का मूल जो विनय (इन्द्रियों का विनयन= अनुशासन) है वह प्राप्त होता है। चाणक्य ने भी कहा है- इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः। विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा। वृद्धोपसेवयाऽऽत्मानं सम्पादयेत्। सम्पादितात्मा जितात्मा भवति। अतः यह वृद्धोपसेवारूप यज्ञ भी शुद्धि में सहायक होता है।

१. धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिधा भवति, विद्याज्ञानधर्मानुष्ठावृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारमार्थिकसुखसम्पादनाय सत्करणं सम्यक्पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति। द्र०- यजु०भा० द्वितीयमन्त्रव्याख्याने स्वामी दयानन्दः।

मन्त्र का दूसरा वाक्य है- द्यौरसि अर्थात् द्यौरस्ति पूर्व वाक्य से 'वसुः' पद की अनुवृत्ति या अन्वय अग्रिम सभी वाक्यों से होता जाएगा। अर्थ हुआ- यज्ञ विज्ञान के प्रकाश का हेतु है। 'द्यौः' शब्द का अर्थ सूर्यकिरण भी होता है अतः यज्ञ सूर्य किरणों में स्थिर होने वाला है।

तीसरा वाक्य है- पृथिव्यसि अर्थात् पृथिव्यस्ति। यज्ञ वायु के साथ देश-देशान्तर में फैलने वाला है। यहाँ एक विशेष बात यह समझनी है कि संस्कृतभाषा का एक नियम है कि संस्कृत शब्द आख्यातज=क्रियाज माने जाते हैं (All nouns derived from verbs) कभी तो वे शब्द उस मात्र क्रियायोग को कह देते हैं और कभी क्रियासम्बद्ध द्रव्य को। प्रकृत में पृथिवी शब्द भूमि (Land) इस पदार्थ का वाचक न होकर प्रथित, विस्तृत इस अर्थ को कह रहा है, अतः पृथिवी शब्द का अर्थ हो गया- यज्ञ देश-देशान्तर में फैलने वाला है।

चतुर्थ वाक्य है- मातरिश्वनो घर्मोऽसि अर्थात् मातरिश्वनो घर्मोऽस्ति। मातरिश्वन् शब्द वायु का वाचक है क्योंकि 'माता' कहते हैं अन्तरिक्ष को अन्तरिक्ष में जो श्वसन=प्राणन क्रिया करता है[१]। अतः वाक्य का अर्थ हुआ- अग्नितप से युक्त हुआ यह यज्ञ वायु का शोधक है। घर्म का अर्थ है शोधक (शुद्ध करने वाला)

पाँचवा वाक्य है- (अयं वसुः) विश्वधाऽसि अर्थात् विश्वधाऽस्ति। यह यज्ञ समस्त अस्तित्व को धारण करने वाला है। व्यापक अर्थ में या संकुचित (केवल अग्निहोत्र) दोनों ही दृष्टियों से यज्ञ विश्वधारक सर्वधारक है। यजुर्वेद में ही दूसरी जगह प्रश्नोत्तरशैली में बताया- अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। इस यज्ञ ने ही समस्त विश्व को बांधा हुआ है। (णह बन्धने)।

छठा वाक्य है- परमेण धाम्ना दृꣳहस्व अर्थात् परमेण धाम्ना दृंहते (वर्धते)। यह यज्ञ परम धाम=उत्तम सुख स्थान के साथ सुख को बढ़ाने बाला

१. 'मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा' नि०- ७.२६ 'अयं वै वायुर्मातरिश्वा योऽयं पवते' इति (श०- ६.४.३.४)

है। वर्द्धते क्रिया 'वर्द्धयते' णिजन्त के अर्थ को दे रही है। 'परम धाम' का अर्थ है तृतीय धाम, सुख धाम, आनन्द धाम अर्थात् यह यज्ञ उस परम सुख के साथ अर्थात् उस परम सुख का त्याग न करते हुए सुख को बढ़ाता है। ईश्वरीय आनन्द को अपने साथ रखते हुए संसार सुखों को बढ़ाता है।

सातवाँ वाक्य है- 'मा ह्वार्मा मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्'। यहाँ ह्व धातु त्याग करने अर्थ में है। विद्वत् पुरुष जो दूसरों के लिए आदर्श है दूसरों के लिए मार्गदर्शक बना हुआ है, उसे मन्त्र ने आदेश दिया कि हे विद्वत् पुरुष मन्त्रोक्त छः विशेषताओं से युक्त जो यज्ञ है उसे मत छोड़ और साथ में यह भी कह दिया कि तुम्हारा यज्ञ का रक्षा करने वाला यजमान भी उस यज्ञ को न छोड़े।

यह मन्त्र का यज्ञपरक अर्थ हुआ। यदि यहाँ वसु शब्द जगदीश्वर अर्थ का वाचक माना जाए तो अर्थ बनेगा- वह वसु जगदीश्वर पवित्रताकारक है, विज्ञानप्रकाश का करने हारा है, पृथिवी की तरह विस्तृत सब जगह फैला हुआ, वायु आदि का चालक है, विश्व माने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का धारक है। सबको परम करुणा से धारण करता हुआ उन्नति पथ पर ले जाता है। हे विद्वन् मनुष्य! ऐसे उस जगदीश्वर को तुम कभी मत छोड़ो और तुम्हारे कहे में चलने वाला तुम्हारा अनुगामी या सहयोगी यजमान भी उस परमेश्वर को न छोड़े। वसु शब्द वेद में परमेश्वर का वाचक प्रसिद्ध ही है- 'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ'।

यहाँ हमने देखा 'ह्वर' क्रिया का कर्ता 'हे विद्वन् मनुष्य' इस सम्बोधनान्त पद का अध्याहार किया गया है। एक अर्थ मन्त्र का यह भी हो सकता है कि सीधा जीव को सम्बोधन करके कहा जा रहा है कि हे जीव! तू यज्ञ का पवित्र करने वाला है। यज्ञ तो अपने आप में पवित्र है, पर तेरी महिमा तो इससे भी बढ़कर है, उस पवित्र यज्ञ का भी तू पवित्रकर्ता है। तू न हो तो यज्ञ की पवित्रता को कौन जाने? कौन सिद्ध करके दिखाए कि यज्ञ पवित्र है? द्युलोक के समान तेरी ऊँचाई है, पृथिवी के समान तेरा विस्तार है, तू वायु के शोधक तेज (घर्म) के समान है, तू इतना महान् है कि सबका धारक है। परम धाम

के साथ, ईश्वरीय सुख के साथ तू वृद्धि को प्राप्त होता रह। अपनी महिमा को देखते हुए तू कभी कुटिल चाल मत चल और जहाँ भी तू कार्य करे, जो तुम्हारे संगठन का मुखिया (यज्ञपतिः) हो, वह भी कुटिलता न करे। तुम और तुम्हारे नेता अन्दर-बाहर से एक रूप हों, सदा शिशुवत् सरल होकर जीएँ।

अब हम यह जानना चाहते हैं- यह कुटिलता है क्या ? कुटिलता का अर्थ है- मन में कुछ और, वाणी में कुछ और ही, तथा कर्म में कुछ और- यही कुटिलता है (मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्)। कुटिलता के रहते व्यक्ति अन्तर्मुख नहीं हो सकता, उसके मन की गति या प्रवृत्ति आत्मा की ओर नहीं हो सकती। आत्मा में प्रवेश पाने के लिए अपनी इन्द्रियों को पार करके जो कि मन को शान्त करना होता है और फिर उससे भी परे अपनी बुद्धि को स्थिर करना होता है, यह काम वह व्यक्ति नहीं कर सकता जो कि कुटिल है। कुटिल व्यक्ति पुरुषार्थ चतुष्टय में से धर्म की साधना भी नहीं कर सकता बल्कि यह कहना चाहिए किसी भी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि धर्म से कटते ही अर्थ व काम से तो व्यक्ति का सम्बन्ध स्वतः ही विच्छिन्न हो जाता है। धर्म से अलग होते ही अर्थ अर्थ न रहकर अनर्थ हो जाता है, इसी प्रकार काम काम न रहकर दुष्टकाम या कुकाम बन जाता है। धर्म से संयुक्त अवस्था में ही अर्थ को अर्थ व काम को काम नाम से कहा जाता है। अतः धर्म से जुदा होते ही मोक्ष की साधना तो बहुत दूर की बात हो जाती है। अज्ञान की अवस्था में व्यक्ति अपनी भूल से यह सोचता रहता है कि ऐसा करने से यह लाभ हो जाएगा, वह लाभ हो जाएगा, किन्तु टेढे व्यवहार से हानि के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगता।

दूसरी शिक्षा है- 'तेरा यज्ञपति भी कुटिल न हो'। यहाँ यज्ञपति से अभिप्राय है 'यज्ञ का स्वामी'। जिस कार्य में व्यक्ति अपनी समस्त ऊर्जा लगाना चाहता है, वह यदि सार्वजनिक महत्त्व का कार्य हो, तो उस संघ का जो प्रमुख संचालक होवे वह भी कुटिल न हो, क्योंकि वह यदि कुटिल मार्ग पर चलेगा तो उसके सभी अनुयायी भ्रान्त हो जायेंगे और सरल सत्यपूर्ण व्यवहार छोड़

देंगे, जिसके भयंकर परिणाम सभी को भोगने पड़ेंगे। राष्ट्राध्यक्ष, किसी संस्था का प्रमुख, किसी संगठन का नेता, परिवार का मुखिया, ग्राम का प्रधान- ये सभी यज्ञपति ही हैं। इसीलिए यजुर्वेद में जिन कर्मों को करने के लिए आदेश दिये हैं, वे सभी 'अध्वर', अकुटिल कर्म, अहिंसापूर्ण कर्म कहलाते हैं, इन कर्मों की यज्ञ संज्ञा है। भाव यह है समुदाय का हर घटक समूचा संघ और संघ का नेता सभी सरल व्यवहार करने के अभ्यस्त बनें। कोई भी कुटिलता का आश्रय न ले। अन्यत्र भी कहा है- 'युयोध्यस्मद्-जुहुराणमेनः'। 'दुरितानि परासुव' इत्यादि। मन्त्र का एक अर्थ यह भी सम्भावित है कि उस परमेश्वर को ही सम्बोधन करके मन्त्र कह रहा है- हे सवितः देव परमात्मन् तुम इस विष्णुरूप यज्ञ के (=वसोः) पवित्रता के हेतु हैं (=पवित्रमसि) तुम विज्ञान के प्रकाशक हो (=द्यौरसि) सर्वत्र प्रथनशील होकर विद्यमान हो (=पृथिवी असि) वायु के चालक हो (=मातरिश्वनो घर्मोऽसि) सबके धारक हैं (=विश्वधाऽसि) अपने परम तेज से (=परमेण धाम्ना) हमको बढ़ाओ (=दृंहस्व=वर्धयस्व) आप हमारे लिए इस यज्ञ को कभी न छोड़ें, आपके द्वारा प्रवृत्त यह यज्ञ सतत चलता रहे (=मा ह्वः) और आपका यह यजमान जो कि प्रार्थी बना हुआ है यह भी आप द्वारा प्रवृत्त इस यज्ञ को अपना आदर्श मानता हुआ कभी भी न छोड़े (=मा ह्वार्षीत्)।

★ ★ ★

(४) यज्ञ का वैशिष्ट्य अथवा पवित्रता

ऋषिः- परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता- सविता। छन्दः- भुरिग्जगती।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा
कामधुक्षः ॥१.३॥

पूर्वमन्त्र में वसुरूप जिस यज्ञ का व्याख्यान किया, उसकी और भी विशेषताएँ बताने के लिए यह मन्त्र है- मन्त्र का प्रथम वाक्य है- 'वसो: पवित्रमसि शतधारम्'। यहाँ 'वसो:' यह षष्ठ्यन्त पद प्रथमा में तथा 'असि' क्रियापद 'अस्ति' रूप में बदल जाएगा। यद्यपि उद्देश्य विधेय में समान लिङ्ग-वचन होते हैं तो भी 'पवित्रम्' यहाँ सामान्य में नपुंसकलिङ्ग समझना चाहिए- जैसे व्याकरण में 'परार्थाभिधानं वृत्ति:' प्रयोग में हुआ है या छान्दस प्रयोग भी कह सकते हैं। अत: अर्थ हुआ- जो यह वसुरूप यज्ञ है वह बहुविध असंख्य संसार का धारण करने वाला है और पवित्र (शुद्धि) करने वाला कर्म है। पवित्र शब्द को गत मन्त्र की भाँति करणकारक में निष्पन्न 'पूयतेऽनेनेति पवित्रम् शुद्धिकारकं कर्म' ऐसा समझना चाहिए अर्थात् यज्ञ शुद्धि करण की ही एक प्रक्रिया का नाम है।

दूसरा वाक्य है- 'वसो:' पवित्रमसि सहस्रधारम्' अर्थात् पूर्ववाक्य की भाँति ही इसका भी अर्थ होगा- यह यज्ञ अनेक प्रकार से ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला शुद्धि का निमित्त बनकर अत्यन्त सुखप्रद है। जितना भी पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आकाश आदि पञ्चभूतों, वृक्ष-ओषधि-वनस्पति आदि भूमिज पदार्थों गौ-अश्व-हस्ती आदि ग्राम्य तथा मृग आदि आरण्य पशु व मनुष्य जगत् का परस्पर सह-अस्तित्व पूर्वक (Co-existence) जो एक क्रमविशेष दिखाई देता है, वह सम्पूर्ण विस्तार यज्ञ का ही रूप है। सम्पूर्ण सृष्टि में परस्पर उपकार्य- उपकारक भाव का होना ही यज्ञ है। मनुष्येतर सृष्टि के अन्य घटक तो विधाता के नियम में बंधे हुए यज्ञ का भंग नहीं करते किन्तु मनुष्य के पास मनरूपी साधन के विकसित होने से और साथ में मनोवाञ्छित ढंग से उसका प्रयोग करने में पूर्ण स्वाधीन होने से यह मनुष्य अज्ञान, स्वार्थ, भय, प्रलोभन, कामना व आसक्ति आदि कारणों से उस सुखप्रद यज्ञ का भंग कर देता है और परिणाम में अनन्त दु:खों को झेलता रहता है और अपने ही हाथों अपना विनाश करता हुआ अपने मन-बुद्धि व इन्द्रियों को अशुद्धि का

और उसके परिणामस्वरूप दु:ख का अड्डा बना लेता है। अत: वेद-शिक्षा की आवश्यकता होती है कि व्यक्ति कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान प्राप्त करे, सृष्टि में चले रहे स्वाभाविक छन्द (Rythm) का भंग न करे। स्वयं सुख में जीए तथा अन्यों की भी सुख में जीने के लिए सहायता करे।

मन्त्र का अग्रिम वाक्य है- 'देवस्त्वा सविता पुनातु' यहाँ 'त्वा' शब्द व्यत्यय से 'तम्' अर्थ को दे रहा है। अत: अर्थ होगा- वसु अग्निपृथिवी आदि तैंतीस देवों की उत्पत्ति करने वाला[१] सविता देव उस वसुरूप यज्ञ को पवित्र करे। उसमें अशुद्धि व विकार न आने दे। वह सविता देव मनुष्यों को ऐसी बुद्धि प्रदान करे कि वे इस सह-अस्तित्व रूप सृष्टियज्ञ अथवा व्यवहार यज्ञ का भंग न करे।

मन्त्र के चतुर्थ वाक्य में कहा- 'वसो: पवित्रेण शतधारेण सुप्वा' पूर्ववत् 'वसो:' का अर्थ हो गया 'वसु:'। इससे पूर्व वाले वाक्य से 'पुनातु' क्रिया को प्रकृत वाक्य से भी सम्बद्ध कर लेना चाहिए। यहाँ 'सुप्वा[२]' शब्द जो कि तृतीया एक वचनान्त है उसका अर्थ होगा- अच्छी प्रकार जो पवित्र करने वाला है या पवित्रता का हेतु है, उस (यज्ञ) के द्वारा। इस प्रकार हे जगदीश्वर! पद का ऊपर से अध्याहार करते हुए सम्पूर्ण वाक्य का यह अर्थ हुआ, हे जगदीश्वर! आप हम लोगों द्वारा सेवित जो यह वसु रूप यज्ञ है उस शुद्धि के निमित्त वेद के विज्ञान रूप कर्म से (=पवित्रेण) तथा बहुत विद्याओं को धारण करने वाले वेद द्वारा (=शतधारेण) और अच्छे प्रकार पवित्र करने वाले यज्ञ से (=सुप्वा) हमें ('अस्मान्' यह अध्याहृत है) पवित्र कीजिए।

मन्त्र का अन्तिम वाक्य है- 'काम् अधुक्ष:' 'काम्' इस पद में एक शेष निर्देश है और छान्दस एक वचन है। जिज्ञासो या विद्वन् का अध्याहार तथा वीप्सा में द्विर्वचन मानने पर अर्थ हुआ- हे विद्वन् या जिज्ञासो! तुमने किस-किस गाय का दोहन किया है। जैसा कि 'गो' शब्द का अर्थ वेदवाणी

१. सविता वा देवानां प्रसविता (श०- १.१.२.१७)
२. सुष्ठुतया पुनाति पवित्रताहेतुर्वा तेन।

भी होता है अत: 'काम्अधुक्ष:' का निष्कृष्टार्थ होगा- किस-किस वेदवाणी का तुमने दोहन किया है। वेदत्रयी में से किस-किस को अपने मन में प्रपूरण करना अर्थात् जानना चाहते हो?

बिना विभक्तियों का व्यत्यय (परिवर्तन) किए भी मन्त्रार्थ को संगत किया जा सकता है- हे जिज्ञासु या हे विद्वन् पुरुष! तुम यज्ञ की पवित्रता के साधक हो और सैकड़ों प्रकार से उसे धारण करने का सामर्थ्य रखते हो। यहाँ पवित्रम् और शतधारम् पद सम्बोध्यमान विद्वत्पुरुष के साथ समानाधिकरण हैं। सामान्य अर्थ को लेकर नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग समझना चाहिए। इसी बात को जोर देने (Emphasis) के लिए दुबारा कह दिया- 'वसो:' पवित्रमसि सहस्रधारम्'। तुम यज्ञ की पवित्रता (शुद्धि) को बनाए रखने में पूर्णत: सक्षम हो तुम में अपार सामर्थ्य है (सहस्रधारम्) अर्थात् जीव में Potential तो है किन्तु Competent होने के लिए आलस्य छोड़कर पुरुषार्थ करना पड़ता है। वसु रूप यज्ञ सह-अस्तित्व ही जिसका स्वरूप है उसको समझना और तदनुकूल जीना ही पवित्रता व अनन्त: सुख साधन है। श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग: समाचर।। (गीता- ३.९)

यज्ञ के निमित्त किए जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मों से बंधता है। इसलिए हे अर्जुन! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के लिए ही भलीभाँति कर्म कर।

सहयज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति:।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। (गीता- ३.१०)

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदा करने वाला हो।

सृष्टि रचना के प्रारम्भ में यज्ञ (परमार्थ पारस्परिक सहयोग) की भावना

के सहित प्रजाओं की उत्पत्ति कर प्रजापति (ब्रह्मा) ने अपनी प्रजाओं से कहा- इस यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह यज्ञ ही तुम्हारी शुभ कामनाओं की पूर्ति करने वाला हो।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। (गीता- ३.११)

तुम इस यज्ञ से देवताओं को तृप्त करो और वे देवता तुम्हें तृप्त करते रहें। इस प्रकार एक दूसरे को पुष्ट-सन्तुष्ट करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओ। (देवता कितने हैं-देखिए बृहदारण्यकोपनिषद् (अ० ३, ब्रा० ९, क० १) में याज्ञवल्क्य-शाकल्य संवाद)

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

(गीता- ३.१२-१३)

क्योंकि यज्ञ से तृप्त होकर देवता तुम्हारे इच्छित सब भोग तुम्हें प्रदान करेंगे। उन देवों द्वारा दिए हुए भोगों को उन्हें वापिस न देकर अर्थात् उनका ऋण न चुका कर जो स्वयं भोग करता है, वह सचमुच चोर है। जो यज्ञशेषभोजी (यज्ञशिष्टाशिनः) होते हैं, वे सब पापों के द्वारा छोड़ दिए जाते हैं अर्थात् सब पाप यज्ञशेषभोजियों को छोड़ देते हैं, पर जो यज्ञ न करके केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं, वे पापी लोग पाप का भक्षण करते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।

(गीता- ३.१४-१५)

प्राणिमात्र की उत्पत्ति एवं वृद्धि अन्न से होती है और अन्न पर्जन्य (वर्षा)

से उत्पन्न होता है। पर्जन्य का उद्भव यज्ञ से होता है और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है। मनुस्मृति में कहा गया है कि अग्नि में दी हुई आहुति सीधी सूर्य को प्राप्त होती है और सूर्य पर्जन्य को उत्पन्न कर वृष्टि करता है। कर्म को ब्रह्म=वेद से और ब्रह्म को अर्थात् वेद को अक्षर (नष्ट न होने वाले परमतत्त्व) परमेश्वर से उत्पन्न हुआ जान। इस कारण सर्वगत ब्रह्म ही यज्ञ में सदा प्रतिष्ठित रहता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। (गीता- ३.१६)

हे पार्थ! जो इस जगत् (सृष्टि) के धारणार्थ यज्ञचक्र (कर्मचक्र) को आगे नहीं बढ़ाता वह मानो पाप को चाह रहा है अर्थात् उसका जीवन पापरूप है। उस विषयलोलुप (जो देवताओं को न देकर स्वयं ही उपभोग करने में लगा है, ऐसे स्वार्थपरायण व्यक्ति) का जीवन व्यर्थ है, पृथ्वी पर भारस्वरूप है।

तीसरा वाक्य है- 'देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा' वसुरूप यज्ञ की पवित्रता की साधक जो अनन्त सामर्थ्य तुम्हारे पास है इसी को पवित्रता का साधन बनाकर (=सुप्वा) अग्नि-पृथिवी आदि समस्त अस्तित्व को प्रकट करने वाला सविता देव तुम्हें और भी पवित्र करता रहे। पवित्रता का यह क्रम निरन्तर जारी रहे, सतत बढ़ता रहे।

मन्त्र के अन्तिम वाक्य में प्रश्न है- भला! यह तो बताओं कि तुमने किन-किन गायों का दोहन किया है। अर्थात् वेदवाणी रूपी तीन गौओं में से एक-दो या तीनों में से किस-किस को अपने मन में भरने का,जानने का प्रयास किया है या कर रहे हो।

यहाँ प्रथम-द्वितीय-तृतीय मन्त्रों के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो रही है कि श्रेष्ठतम कर्म का नाम यज्ञ है। दो प्रकार की सृष्टि हमारे सामने है- ईश्वरसृष्टि-जीवसृष्टि। ईश्वरसृष्टि के सभी कर्म निर्विवाद रूप से यज्ञरूप हैं

किन्तु जीवसृष्टि के कर्मों को यज्ञरूप बनाने के लिए सतत पुरुषार्थ करना होता है। इसी के लिए शास्त्र रचे गए, उपदेश परम्परा चालू हुई, तप अस्तित्व में आया। यदि ईश्वरीय सृष्टि के छन्दोगान में जीव अपना सुर ताल लय भंग कर देता है तो यह जीवसृष्टि बहुत ही द:खप्रद हो जाती है। हर क्षण ईश्वर की तरह ही जीव को भी अपना यज्ञ करना होता है, किन्तु जहाँ प्रमाद हो जाता है वहीं अशुद्धि या दुर्गन्ध आने लगती है। शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय या वैश्व स्तर पर जहाँ भी स्वार्थ का बढ़कर दूसरे की उपेक्षा करने लगता है तो यज्ञसूत्र टूट जाता है। 'यज्ञ' इस शब्द से स्वार्थ का विरोधी भाव परार्थ लिया जाता है। इसमें त्याग की प्रधानता रहती है। भोगी व्यक्ति त्याग नहीं कर सकता, इसलिए जहाँ यज्ञ है वहाँ संयम का भाव या इन्द्रियों पर विजय का भाव स्वत: ही मध्य में आ जाता है। संयम व जितेन्द्रियता से शारीर व मानस मलों का प्रक्षालन चालु हो जाता है। इसी प्रकार परिवार में बड़ों का आदर-सत्कार-पूजा में भी पितृयज्ञ के रूप में श्रम-शक्ति आदि का अंशदान करना होता है। समाज में भी निर्बलों के सहयोग के रूप में भूतयज्ञ या नृयज्ञ करना होता है। सृष्टि संस्था को व्यवस्थित रखने के लिए अर्थात् पञ्च महाभूतों की पवित्रता के लिए देवयज्ञ और आत्मशुद्धि के लिए ब्रह्मयज्ञ करना होता है। इस प्रकार विचार करने से यज्ञ एक शुद्धिकरण की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। मन्त्र में कहा गया कि यज्ञ पवित्रता करने वाला है। यज्ञ किसे पवित्र करता है इस जिज्ञासा में कहना होगा- 'यज्ञ' यह एक व्यापक शब्द है- श्रीमद्भगवद्गीता में श्लोक २४-३३ तक अध्याय ४ में भगवान् गुरु ने १२ प्रकार के यज्ञ गिनाए हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। (गीता- ४.२४)

ब्रह्म ही जिसका सर्वस्व है- अर्पण करने का साधन स्रुवा आदि भी ब्रह्म, हवि भी ब्रह्म, यजमान भी ब्रह्म, अग्नि भी ब्रह्म और आहुति देना रूप क्रिया

भी ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्माग्नि में मानो ब्रह्म ने ही हवन किया। उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किया जाने वाला (फल) भी ब्रह्म ही है। जिसने अहं को ब्रह्म में लीन कर दिया मानो वह स्वयं ब्रह्म हो गया।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञंक यज्ञेनैवोपजुह्वति।। (गीता- ४.२५)

कुछ योगी अन्य देवताओं आदि को उद्देश्य बनाकर दैव यज्ञ की उपासना किया करते हैं और कुछ ब्रह्माग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करते हैं अर्थात् परब्रह्म परमात्मा में ज्ञान द्वारा एकीभाव से स्थित होना ही ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करना है, भाव यह है कि परमात्मा में आत्मा को समर्पित करना व आत्मरूप यज्ञ से परमात्मरूप का यजन करना।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। (गीता- ४.२६)

कोई श्रोत्र, नेत्र आदि इन्द्रियों का संयमरूप अग्नि में हवन करते हैं और कुछ लोग इन्द्रिय रूप अग्नि में शब्दादि विषयों का हवन करते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।

(गीता- ४.२७-२८)

कुछ लोग इन्द्रियों तथा प्राणों के सब कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योग की अग्नि में हवन करते हैं। इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करने वाले अन्य जो यति अर्थात् संयमी पुरुष हैं, वे द्रव्ययज्ञ, तपरूप यज्ञ, योगरूप यज्ञ, स्वाध्यायरूप यज्ञ और ज्ञानरूप यज्ञ किया करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।। (गीता- ४.२९)

दूसरे कुछ प्राणायाम-परायण साधक, प्राण-अपान की गति रोककर

प्राण की अपान में और अपान की प्राण में आहुति दिया करते हैं। शरीर से बाहर जाने वाली वायु को 'प्राण' तथा शरीर के भीतर प्रवेश करने वाली वायु को 'अपान' कहते हैं। गीता के अनुसार प्राणायाम भी एक यज्ञ ही है। उपर्युक्त श्लोक के अनुसार जिस वायु का निरोध करते हैं, उसका अन्य वायु में होम होता है।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। (गीता- ४.३०)

अन्य कई नियताहार अर्थात् आहार-विषयक संयम रखने वाले, समय पर हित-मित भोजन करने वाले साधक अपान में प्राण की आहुति देते हैं अर्थात् पूरक प्राणायाम (आभ्यन्तरवृत्ति) करते हैं तथा प्राण में अपान की आहुति देते हैं अर्थात् रेचक प्राणायाम (बाह्यवृत्ति) करते हैं। कुछ साधक बिना रेचन व पूरण के यथावस्थित प्राणापान की गति रोककर प्राणों की प्राणों में आहुति देते हैं अर्थात् स्तम्भवृत्ति प्राणायाम करते हैं। ये सब (जिनका वर्णन ऊपर किया गया है) यज्ञ के रहस्य के ज्ञाता (जानने वाले) हैं और उक्त यज्ञों द्वारा अपने सब पापों को क्षीण कर देते हैं। यहाँ प्राणायाम की साधना करने वालों के लिए 'नियताहाराः' विशेषण दिया गया है, यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है; क्योंकि आहार-संयम के बिना प्राणायाम सिद्ध नहीं है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।

(गीता- ४.३१)

जो व्यक्ति यज्ञशेष रूपी अमृत का भोजन करते हैं, वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। ईश्वरार्पण बुद्धि से यज्ञ (उद्योग या प्रयत्न) न करने वाले को जब यह लोक ही नहीं है अर्थात् इस लोक में ही सफलता नहीं मिलती तो परलोक की तो बात ही क्या, स्वर्ग उन्हें कहाँ से मिलेगा?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। (गीता- ४.३२)

इस प्रकार बहुविध (अनेक प्रकार के) यज्ञ इस ब्रह्म के मुख में (वेदवाणी में) निरन्तर विद्यमान हैं। उन सबको कर्म के द्वारा ही सम्पन्न हुआ जान। ऐसा जानकर तू मुक्त हो जाएगा।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। (गीता- ४.३३)

हे परन्तप (अर्जुन)! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि हे पार्थ! समस्त कर्मों का पर्यवसान (परिसमापन) ज्ञान में ही होता है। योगी के सब कर्म ज्ञानोपलब्धि के लिए होते हैं। स्वामी दयानन्द ने भी कहा है कि 'निष्काम कर्म तो परमेश्वर का अनुभव करने के लिए होते हैं'। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदविषय प्रकरण)

यह सारा प्रसङ्ग हमने सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है कि यज्ञ शुद्धि का साधन है। कौन से यज्ञविशेष से कौन-कौन-सी शुद्धि विशेष होती है यह भी स्पष्ट है।

★★★

(५) तीन धेनु

ऋषि:-परमेष्ठी प्रजापति:। देवता- विष्णु:। छन्द:- अनुष्टुप्।

सा वि॒श्वायु॒: सा वि॒श्वक॑र्मा॒ सा वि॒श्वधा॑याः।
इन्द्र॑स्य त्वा भा॒गꣳसोमे॒नात॑नच्मि॒ विष्णो॑ ह॒व्यꣳर॑क्ष॥१.४ ॥

गतमन्त्र के अन्त में 'कामधुक्ष:' कहकर प्रश्न छोड़ दिया था, उसी का उत्तर यह मन्त्र है- हे विष्णो! व्यापक ईश्वर! आप जिस वाणी का धारण करते हैं (सा) वह वेदवाणी (विश्वायु:[१]) पूर्ण आयु को देने वाली (विश्वकर्मा[२]) सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड को सिद्ध करने वाली (विश्वधाया:[३]) सम्पूर्ण जगत् को

१. पूर्णमायुर्यस्यां सा।
२. विश्वं सम्पूर्णं क्रियाकाण्डं सिध्यति यया सा।
३. या विश्वं सर्वं जगद्विद्यागुणै: सह दधाति।

विद्या और गुणों से धारण करने वाली है। पूर्वमन्त्र के अन्त में जो प्रश्न है उसके उत्तर में यही तीन प्रकार की वाणी ग्रहण करने योग्य है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा (इन्द्रस्य भागं त्वा सोमेनात नच्मि) तू इन्द्र का भाग है, ऐसे तुझको मैं सोम से बढ़ाता हूँ। हे विष्णो! (हव्यं रक्ष) मेरे हव्य की रक्षा करो। मैं सब कुछ आपके लिए अर्पित कर चुका हूँ। आत्म सर्वस्व ही यहाँ हव्य है।

वेदवाक् ज्ञान की वाक् है। महर्षि दयानन्द इस मन्त्र का भावार्थ लिखते हैं- तीन प्रकार की वाणी होती है- प्रथम वह जो कि ब्रह्मचर्य में पूर्ण विद्या पढ़ने अथवा पूर्ण आयु प्राप्त हो इस प्रयोजन के लिए सेवन की जाती है। दूसरी गृहाश्रम में अनेक क्रियाओं के द्वारा उद्योगों से सुखों को देने वाली इस वाणी का विस्तार किया जाता है और तीसरी वह है जो इस संसार में सब मनुष्यों के शरीर और आत्मा के सुख की वृद्धि अथवा ईश्वर आदि पदार्थों के विज्ञान को देने वाली वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में विद्वानों द्वारा उपदेश की जाती है। इस तीन प्रकार की वाणी के बिना किसी को भी सर्व सुख नहीं हो सकते; क्योंकि इसी से पूर्वोक्त यज्ञ तथा व्यापक ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है। इसी वाणी के द्वारा नियम से किया हुआ यज्ञ संसार में रक्षा का हेतु और प्रेम सत्यभाव से प्रार्थना को प्राप्त हुआ ईश्वर विद्वानों की सर्वदा रक्षा करता है। वही सबका अध्यक्ष है, परन्तु जो क्रिया में कुशल धार्मिक परोपकारी मनुष्य हैं, वे ही ईश्वर और धर्म को जानकर मोक्ष और सम्यक् क्रिया साधनों से इस लोक और परलोक के सुख को प्राप्त होते हैं अन्य नहीं।

'सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः' सर्व आयु, सम्पूर्ण कर्मशक्ति तथा पूर्ण धारकशक्ति के रूप में तीन कामधेनु यहाँ हैं। हर एक के पास ये तीन कामधेनु रहती हैं और हर एक का यह कर्तव्य है कि वह यह देखे कि वह किस कामधेनु का दूध दुहकर उसका सेवन कर किस प्रकार की पुष्टि प्राप्त कर सकता है। कौन अपनी आयु को लम्बी कर दीर्घ जीवन पा सका। अपनी कार्यशक्ति बढ़ाकर उसके द्वारा अत्यन्त सराहनीय एवं प्रशस्ततम

पुरुषार्थ से सफलता कौन पा सका और किसने अपनी धारकशक्ति को विकसित कर अनेक मानवों का धारण पोषण करने में आशातीत सफलता पाई है। हर कोई अपने जीवन का निरीक्षण कर इन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा करे। यदि अब तक कोई प्रयास नहीं हुआ है तो भूल सुधार कर शेष जीवन के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मानव में आयुष्य, कर्तृत्वशक्ति तथा धारकशक्ति है और इनकी सहायता से मानव अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकता है।

इन्द्र शब्द से जीवात्मा, राजा, सूर्य एवं परमात्मा आदि कोई भी अर्थ लिया जा सकता है। मन्त्र में इन्द्र को सोम से बढ़ाने की बात की है। जैसे कोई साधक है उसके प्रति मन्त्र का संदेश है- तू इन्द्र का भाग है, मैं सोम से तुझे बढ़ाता हूँ। चूँकि तू इन्द्र का ही एक विभाग है। जो इन्द्रशक्ति समूचे संसार को व्याप रही है उसी का एक छोटा-सा अंश इस मानवी देह में प्रविष्ट हुआ है और वह अंश के रूप में रहने पर भी वास्तव में इन्द्र ही है। क्योंकि विष्णु और वामन एक ही हैं। केवल गुण व सामर्थ्य की भिन्नता है, स्वरूप की तो एकता ही है। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है- यो ह वै विष्णुर्वामनः स आस। स्वर्ग का जो विष्णु है वही धरती का वामन है। (Macrocosm) और (Microcosm) में स्वरूप की भिन्नता नहीं है। आयुर्वेद में भी कहा है। 'लोकसम्मितोऽयं पुरुषः' अर्थात् लोक के तुल्य ही है यह पुरुष। 'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे' यह एक प्रसिद्ध सूत्र सर्वविदित तथ्य का रूप ले चुका है। अर्थात् ब्रह्माण्ड में जो नियम काम कर रहे हैं वे ही पिण्ड में काम कर रहे हैं बल्कि यह कहना चाहिए- अणु में काम कर रहे हैं। जैसे अग्नि का अंश अग्नि ही है, दोनों अभिन्न हैं। इसी प्रकार जीवात्मा एक छोटा-सा इन्द्र है और वह सोमशक्ति से बढ़ने वाला है। जैसे प्रश्नोपनिषद् में प्राण भोक्ता है रयि भोग्य। अनेक स्थानों में 'धन-ऋण' इन दो शब्दों का प्रयोग होता है। धन व ऋण शक्तियाँ एक-दूसरे की पोषक होती हैं। शरीर रूपी सोमशक्ति से इन्द्र की कैसे वृद्धि हो सकती है, यह विचार का क्षेत्र है।

मन्त्र की यहाँ यह भी शिक्षा हो सकती है इन्द्र बल या सामर्थ्य का देवता है जो वीरता, पराक्रम के भाव को प्रकट करता है और सोम है शान्ति, विनय, सौम्यता का। अत: अर्थ होगा बल को, सामर्थ्य को सोम से दृढ़ करता हूँ। जहाँ बल होता है वहाँ व्यक्ति अभिमानी या उच्छृङ्खल हो सकता है, अत: सोम से उसको बढ़ाने की बात कही। सोम का एक अर्थ औषधियों का सार शरीर में जो शुक्र के रूप में निर्मित अन्तिम धातु है वह भी है, उससे इन्द्र तेजस्वी, उत्साही, पराक्रमी होता है। अन्त में कहा- हे विष्णुदेव! मेरे इस हविर्भाग (श्रद्धा, समर्पण, निष्ठा, त्याग) का संरक्षण करो। अर्थात् इन्द्र की सेवा में मैं अपनी आत्माहुति दे रहा हूँ इसकी आप रक्षा कीजिए।

★ ★ ★

(६) जीवन-प्रवाह अनृत से सत्य की ओर

ऋषि:-परमेष्ठी प्रजापति:। देवता- अग्नि:। छन्द:- आर्ची त्रिष्टुप्।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥१.५ ॥

परमेष्ठी प्रजापति ऋषि आर्ची त्रिष्टुप् छन्द में 'अग्नि' देवता की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करता हुआ कहता है- (व्रतपते अग्ने) हे व्रतों के पालन में सहयोग करने वाले ज्ञानस्वरूप प्रभो (व्रतं चरिष्यामि) मैं व्रत का आचरण करूँगा, (तत् शकेयं) मैं अपने संकल्प को पूर्ण करने में सक्षम होऊँ (मे तत् राध्यताम्) मेरा वह व्रत सिद्ध होवे (इदम् अहम् अनृतात् सत्यम् उपैमि) यह मैं असत्य को छोड़कर सत्य का ग्रहण कर रहा हूँ।

कर्म के मानस संकल्प का नाम व्रत है, जिसके होने पर व्यक्ति उस विशिष्ट कर्म में दीक्षित हो जाता है अर्थात् उस व्यक्ति को उस कर्म का अधिकार प्राप्त हो जाता है। किसी भी यज्ञ का याज्ञिक अपने पथ-प्रदर्शक अग्नि से साहाय्य की याचना करता है कि हे मेरे अज्ञान-अन्धकार के निवारक

अग्ने! मैं अपने संकल्प में सफल होऊँ, इसके लिए आप मेरी सहायता कीजिए। मैं अकेला इस यात्रा में सफल नहीं हो पाऊँगा। आज मैं यह व्रत ले रहा हूँ कि सदा अनृत से अर्थात् मिथ्यात्व से हटकर सत्य को धारण करूँ, कर सकूँ, कर पाऊँ, करता रहूँ।

व्यक्ति जैसा जानता है यदि उससे विरुद्ध बोलता है तो यह वाणी का अनृत होगा। शास्त्र और गुरुजनों से जैसा जाना सा समझा वैसा यदि आचरण नहीं करता तो यह आचरण का अनृत कहा जायेगा जैसे कि व्यक्ति ने जान तो लिया कि यम-नियम का पालन करने से वैयक्तिक और सामुदायिक सुख-शान्ति बढ़ती है, पर अब उस ज्ञान का आदर नहीं करता, उस पर चल नहीं रहा है। इसी प्रकार शरीर के तीन, वाणी के चार और मन के तीन अशुभ कर्मों से व्यक्ति के जीवन में दु:ख बढ़ता है, यह बात सीख तो ली, पर इस का आचरण नहीं करता। जैसा व्यक्ति ने बोला वैसा यदि उसे पूरा नहीं किया तो यह व्यवहार का अनृत कहा जायेगा। जैसे कि मैं आपको अमुक स्थान पर मिलूँगा या पैसे उधार लेते समय कहा कि तीन माह में वापस लौटा दूँगा और फिर वैसा करता नहीं है। व्यक्ति सत्य और असत्य को जानने के लिए अपना मन ही नहीं लगा रहा, उधर ध्यान ही नहीं दे रहा तो यह पुरुषार्थ का अनृत कहलायेगा। बहुत सारे विषयों में व्यक्ति का अज्ञान बना रहता है यह भी एक प्रकार का अनृत ही है। जैसा कि बाल्यावस्था में जैसा देखता या सुनता है, जैसी भी संगति प्राप्त करता है वैसा ही कुछ भी करता रहता है। अर्थात् स्वयं विचार करने या देखने की क्षमता विकसित नहीं हुई, गुरुजन या शास्त्र की वाणी सुनने को नहीं मिली तो प्राप्त संगति के अनुसार सामान्य बुद्धि या इन्द्रिय दृष्टि जो दिखायेगी, वह निश्चितरूपेण अनृत ही होगा। किसी असत्य को सत्य मानकर आचरण करता रहता है तो यह एक मिथ्या मान्यता के रूप में अनृत होगा। आलस्य और प्रमाद युक्त जीवन भी एक विशेष प्रकार का अनृत ही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का स्वरूप ठीक-ठीक न समझना अर्थात् सही दृष्टि का उपलब्ध न होना यह एक प्रकार का अनृत है और दृष्टि

उपलब्ध हो भी गई तो उस उपलब्ध दृष्टि के अनुसार स्थिति का प्राप्त न होना एक दूसरे प्रकार का अनृत हो जाता है। मन्त्र का द्रष्टा ऋषि यह सन्देश दे रहा है कि सत्य जीवन का इच्छुक कोई भी साधक अग्नि स्वरूप परमेश्वर की स्तुति करता हुआ यह व्रत ग्रहण करे कि मैं अब असत्य जीवन अनृतमय जीवन नहीं जीना चाहता, अत: असत्य का त्यागकर सत्यव्रत को ग्रहण कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि प्रभु की सहायता से ऐसा मैं कर पाऊँगा।

★★★

(७) कौन है कर्मों में प्रेरक

ऋषि:-परमेष्ठी प्रजापति:। देवता- प्रजापति:। छन्द: आर्ची पङ्क्ति:।

कस्त्वा॑ युनक्ति॒ स त्वा॑ युनक्ति॒ कस्मै॒ त्वा युक्ति॒ तस्मै॒ त्वा युनक्ति। कर्म॑णे वा॒ वेषा॑य वाम्॥१.६ ॥

(क: त्वा युनक्ति) कौन तुझे कर्मों में प्रवृत्त करता है? (स: त्वा युनक्ति) वह (परेश्वर) तुझे प्रवृत्त करता है। (कस्मै त्वा युनक्ति) किसलिए तुझे प्रवृत्त करता है? (तस्मै त्वा युनक्ति) उस सत्यधर्म के दर्शन के लिए तुझे प्रवृत्त करता है। (कर्मणे वाम्) तुम दोनों को कर्म (श्रेष्ठ कर्म) करने के लिए प्रेरित करता है (वेषाय वाम्) घर में प्रवेश पाने के लिए तुम दोनों को प्रवृत्त करता है। भौतिक रूप से तो घर का अर्थ सभी को विदित ही है, आध्यात्मिक अर्थ में हृदय ही वह घर है जहाँ कर्म के द्वारा हम अपने-अपने घर में प्रवेश पाते हैं।

मन्त्रगत 'वाम्' (तुम दोनों) शब्द से दो मित्र, निर्बल और सबल, सधन-निर्धन, राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, ज्ञानी-अज्ञानी, अधिकारी-अनधिकारी, पति-पत्नी, अध्यापक-शिष्य- ये सब अर्थ लिए जा सकते हैं। एक कार्यालय होता है और एक घर। कार्यालय काम करने का स्थान है और घर विश्राम का। आलस्य और अकर्मण्यता से विश्राम प्राप्त

नहीं होता, आलस्य और अकर्मण्यत: से तो व्यक्ति दिनोंदिन और भी ज्यादा व्यर्थ चिन्तन, पराश्रय व पराधीनता में आबद्ध होता रहता है। अत: विश्राम प्राप्त होता है सही करने से। विश्राम एक 'शारीरिक' होता है, दूसरा होता है- 'मानसिक'। व्यक्ति अपनी सच्ची विश्राम भूमि हृदय में तभी पहुँच सकता है, जब वह अनावश्यक कार्य का त्याग करके आवश्यक कार्य को करने के के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। गलत करने का परिणाम होता है कभी भी समाप्त न होने वाली अन्तहीन दु:ख-शृङ्खला, किन्तु सही करना अर्थात् सेवा या निष्काम भाव से करने के द्वारा व्यक्ति 'न करना' रूप परमशान्ति को प्राप्त कर लेता है। जैसे कि भगवद्गीता में भी जगह-जगह कहा है-

'निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय:। (१२.८)

'ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'। १८.५५)

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। (१८.६५)

वेद में भी कहा है-

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।

परमात्मा का स्वरूप जो जीव का असली घर है उसमें स्थिति सभी कर्त्तव्यों के पूरा करने पर ही होती है। अत: इस मन्त्र में कहा गया कि ईश्वर ने जीव को कर्म में इस हेतु से प्रवृत्त किया है कि वह अपने व्यापक स्वरूप (=वेष) को प्राप्त हो जाए। कर्त्तव्य की पूर्णता व्यक्ति को आत्मबोध तक पहुँचा देती है, यदि व्यक्ति कर्म की प्रेरिका कामना से मुक्त होकर उचित भाव के साथ भगवदादेश या भगवत्-पूजन समझ कर कर्म करता है।

★★★

(८) राक्षसों का नाश

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता- यज्ञः। छन्दः- प्राजापत्या जगती।

प्रत्यु॑ष्टꣳरक्षः प्रत्यु॑ष्टा॒ऽअरा॑तयो॒ निष्ट॑प्तꣳरक्षो॒ निष्ट॑प्ता॒ऽअरा॑तयः।
उर्व॒न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि॥१.७॥

(रक्षः प्रत्युष्टम्) राक्षस जला दिए गए हैं (प्रति उष् दाहे)। (अरातयः प्रत्युष्टाः) अनुदारभाव, स्वार्थभाव या अदानभावों को भी जला दिया है। (रक्षः निष्टप्तम्) राक्षसगण संतप्त कर दिए हैं। (अरातयः निष्टप्ताः) अदानभावों या स्वार्थभावों को निश्चयपूर्वक झुलस दिया है। (उरु अन्तरिक्षम् अन्वेमि) मैं विशाल अन्तरिक्ष में (सम्पूर्ण वसुधा में) अथवा अपने हृदयाकाश में अनुकूलतापूर्वक चला जाता हूँ।

मन्त्र में 'राक्षसभाव' और 'अरातिभाव' इन दो प्रकार के भावों को जलाने या दग्ध करने की बात कही गई है। राक्षस भाव वे हैं जो दूसरों के सुख में या सामाजिक हित में रुकावट डालते हैं (रक्ष प्रतिबन्धे) तथा अरातिभाव से तात्पर्य है- शुभ कार्यों में सहयोग के लिए अनिच्छुक भाव। किसी भी यज्ञ के सम्पादन के लिए दोनों ही बाधाओं का हटना आवश्यक है। यज्ञ का विध्वंस करने के लिए राक्षस के रूप में जो अपनी भूमिका अदा करते हैं वे तो यज्ञ के विरोधी हैं ही किन्तु उस यज्ञ की सम्पन्नता के लिए अपना सक्रिय सहयोग नहीं देने वाले भी यज्ञ के विरोधी माने गए हैं, अतः सामुदायिक कार्य में यथाशक्ति अपना अंश दान करना भी आवश्यक है। कल्पना की जा सकती है कि मनुष्य हित में जो छोटे-बड़े कार्य होते रहते हैं यदि उनमें तन, मन या धन से किसी भी रूप में सहयोग करने वाला कोई न हो तो वे कैसे होंगे? अतः कहा गया कि मनुष्यों की रक्षा के लिए एक इकाई से लेकर विश्व तक जहाँ-जहाँ भी जो-जो उत्तम कार्य चल रहे हैं वहाँ अपनी ज्ञानाग्नि में उन स्वार्थभावों को जला डालना चाहिए, जिनके कारण व्यक्ति स्वकेन्द्रित हुआ

रहता है, अपने ही बारे में सोचता है, मात्र अपने ही सुखों तक सीमित रहता है । ऐसा करने से समाज तो सुन्दर बनेगा ही, साथ में व्यक्ति भी आत्मा के विशाल अन्तरिक्ष में विचरने लगेगा। उसका हृदय विशाल हो जाएगा। हृदय में जब विशालता आती है तो सभी काम-क्रोध-लोभादि वैकारिक भावों का अन्त हो जाता है। संध्या मन्त्रों में भी यह प्रार्थना की गई है- 'ओम् महः पुनातु हृदये'। महत्ता मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर मेरे हृदय को पवित्र कर दे।

जब मनुष्य केवल अपने सुखों के बारे में सोचता है तो हृदय संकुचित हो जाता है। संकुचित हृदय में काम-क्रोध-लोभ आदि क्षुद्र भाव, शोक-मोह-घृणा इत्यादि स्वतः ही डेरा जमा लेते हैं। जहाँ इन क्षुद्र भावों को बसने के लिए जगह मिल गई, वहाँ शान्ति कहाँ। अतः कोई व्यक्ति अपने जीवन में शान्ति चाहता है, स्वाधीनता चाहता है, रसरूप जीवन चाहता है तो उसे अपने हृदय को विशाल बनाना होता है। विशाल हृदय व्यक्ति सुख लेने की बजाय सुख देना चाहता है। जैसे ही व्यक्ति के हृदय में उदारता का प्रवेश होता है, तत्काल जीवन शान्ति, रस व प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। और यह नियम है कि रसमय जीवन में काम के उत्पन्न होने के लिए कोई स्थान नहीं मिलता, क्योंकि नीरसता में ही काम की उत्पत्ति होती है। एक बात को हम दो तरफ से कह सकते हैं- विकारों का नाश करने पर विशालता में प्रवेश हो जाता है या दूसरी तरफ से कहें तो विशालता में अपने आपको ऊपर उठा लेने पर विकार स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। मन्त्र में पहली बात कही गई है कि राक्षसों को जला दिया है, अदान भावों को फूँक दिया है, इसके पश्चात् कहा कि मैं विस्तृत अन्तरिक्ष में गति कर रहा है। ऐसा समझ सकते हैं कि शास्त्र, सत्संग और विचार के द्वारा पहले स्थूल विकारों का नाश करते हैं तत्पश्चात् विशाल हृदयाकाश में आरोहण करते हैं। उसके पश्चात् संस्कार रूप में बचे सूक्ष्म विकारों का भी नाश हो जाता है।

★ ★ ★

(९) हिंसकों का संहार

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता- अग्निः। छन्दः- निचृदतिजगती।

धूर॑सि॒ धूर्व॒ धूर्व॑न्तं॒ धूर्व॒ तं योऽस्मान् धूर्व॑ति॒ तं धूर्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः। दे॒वाना॑मसि॒ वह्नि॑तम॒ꣳसस्नि॑तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं देव॒हूत॑मम्॥१.८॥

(धूः असि) तू विनाशक है। (धूर्वन्तं धूर्व) घातक का या हिंसा करते हुए का नाश कर। (तं धूर्व, यः अस्मान् धूर्वति) जो हमारा विनाश करता है, उसका नाश कर। (यं वयं धूर्वामः तं धूर्व) हम सभी जिसे नष्ट करना चाहते हैं, उसे विनष्ट कर। (देवानां वह्नितमं) देवों का तू उत्तम वाहक अर्थात् प्रापक है (वह प्रापणे) (सस्नितमं) उत्तम शुद्धिकारक है (ष्णा शौचे) (पप्रितमं) पूर्णता करने वाला है (प्रापूरणे)(जुष्टतमं) सेवनीय (जुषी प्रीतिसेवनयोः) (देवहूतमम् असि) तथा देवों को तू उत्कृष्ट आमन्त्रण देने वाला है (ह्वेञ् स्पर्द्धायां शब्दे च)। 'देवानाम्' इस पद का सम्बन्ध अगले सभी पदों के साथ है। देवों का उत्तम शुद्धिकारक, देवों की पूर्णता करने वाला, देवों का सेवनीय इत्यादि।

मन्त्र में यह कहा गया है कि तू 'धूः' है, विनाश करने वाला है (धुर्वी हिंसार्थः)। मनुष्य में दोनों ही शक्तियाँ रहती हैं; एक सर्जन या रक्षण पोषण की शक्ति तथा दूसरी है विनाश करने की शक्ति। विवेक दृष्टि से देखना होता है कि कौन-सी शक्ति का कब उपयोग करना है। एक तरफ एक है और दूसरी तरफ समूह। ऐसे प्रसङ्गों में वेद में प्रायःसमूह के लिए अस्मद् शब्द का प्रयोग हुआ है। समूह अपने शक्तिशाली नेता का चयन करके उससे कह रहा है कि तू हमारा 'धूः' है, समस्त विरोधी शक्तियों का नाशक है। जैसा कि हमने पहले भी देखा कि वेद का संदेश व्यावहारिक व आध्यात्मिक दोनों स्तरों पर काम कर रहा है। व्यावहारिक स्तर पर यह कोई तेजस्वी पुरुष होगा, जिसके लिए मन्त्र में कहा गया कि तू सभी दिव्य शक्तियों का श्रेष्ठतम वाहक है, सर्वत्र शुद्धि का सम्पादक है, अर्थशुचिता, आचरणशुचिता, आहारशुचिता,

द्रव्यशुचिता, चारित्र्यशुचिता, मन:शुचिता इत्यादि सभी शुचिताएँ तेरे स्वभाव में हैं। जो विद्या, समझ, ज्ञान, धन, बल व गुणों के विषय में अपूर्ण हैं, उन्हें तू पूर्ण करने वाला है। सभी का तू प्रेमपात्र है, (जुषी प्रीतिसेवनयो:) व सभी का सेवनीय है, सब तुम्हारे पास आकर सेवा करना चाहते हैं, तुम्हारे व्यक्तित्व को अपनाना चाहते हैं तथा तू देवों को आमन्त्रण देने वाला है। एक सामान्य गुणहीन व्यक्ति किसी महान् व्यक्ति को अपने घर कैसे बुला सकता है? उच्च शिखर पर आरूढ किसी राजनेता, खिलाड़ी, उद्योगपति, साहित्यकार, समाज-सेवक, किसी विषय का महान् विद्वान्, उच्चकोटि का दार्शनिक या वैज्ञानिक, दानदाता या अभिनेता इत्यादि को आमन्त्रित करते के लिए आमन्त्रण दाता की पात्रता एक अहं भूमिका रखती है। कोई शराब की फैक्टरी का उद्घाटन करने के लिए किसी शिष्ट पुरुष को या यह कहें किसी महान् पुरुष को आमन्त्रित नहीं कर सकता। किन्तु किसी सर्वोपकारक रूप महान् यज्ञ में तो कोई भी उपस्थित होने के लिए तैय्यार रहता है और आमन्त्रण दाता भी नि:संकोच आमन्त्रण दे सकता है। इस प्रकार मन्त्र में कहा- तेरा व्यक्तित्व इतना महान् है कि देवता भी तेरी पुकार पर पहुँचने के लिए लालायित रहते हैं आध्यात्मिक स्तर पर देखा जाए तो यहाँ आत्मा (इन्द्र) ही वह 'धू:' है जो कोई काम-क्रोध-लोभ आदि अशुभ भाव सर उठाते हैं तो वह अपनी शक्ति से उन्हें वहीं सुला देता है। मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ अपने प्रमुख अपने नेता आत्मा से निवेदन करते हैं कि तू हमें कष्ट देने वाले इन शत्रुओं का नाश कर। हम नहीं चाहते कि ये शत्रु हमारे घर में तबाही मचा दें। तू देवों का वाहक है, शुद्धिकारक है, पूर्णता करने वाला है व्यक्ति में आत्मशक्ति जागरित हो जाती है तो कोई भी न्यूनता रह नहीं सकती। उपनिषद् में कहा है-

'आत्मना विन्दते वीर्यम्' आत्मा या इन्द्र शतक्रतु है। सम्पूर्ण पिण्ड व ब्रह्माण्ड आत्मा की ही उपासना में लगा हुआ है। आत्मा जब अपने प्रकृष्ट रूप में प्रकट हो जाता है तो सभी दिशाएँ उसके आगे हाथ जोड़कर नम्रभाव से उपस्थित हो जाती हैं।

★★★

(१०) वृत्रसंहाररूप यज्ञ में इन्द्र का वरण और शुद्धि

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता- इन्द्रः, अग्निः,यज्ञः। छन्दः- निचृदुष्णिक्, भुरिगार्चीगायत्री, भुरिगुष्णिक्।

युष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ। अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि॥१.१३॥

पदार्थः- (इन्द्रः वृत्रतूर्ये युष्मा अवृणीत) इन्द्र ने अर्थात् आत्मा ने वृत्रवध में तुम्हारा वरण किया। (यूयं) तुमने (वृत्रतूर्ये) वृत्रवध के समय (इन्द्रम् अवृणीत) इन्द्र को वरा। (प्रोक्षिताःस्थ) तुम पवित्र हुए हो। (अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि) अग्नि के लिए प्रिय तुझको मैं पवित्र करता हूँ। (अग्निषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि) अग्नि तथा सोम के प्रिय तुझे मैं पवित्र करता हूँ। (दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम) दिव्य कर्म के लिए शुद्ध बनो। (देवयज्यायै) देवों के यजनार्थ शुद्ध बनो। (यद् वः अशुद्धाः पराजघ्नुः) क्योंकि तुम में से कुछ लोग अशुद्धता के कारण पराभूत हुए। (तत् वः शुन्धामि) अतः मैं तुम को शुद्ध करता हूँ।

मन्त्रों के अर्थ को समझते हुए हमें क्रिया, कर्त्ता व कर्म- इन तीन को मुख्य रूप से पकड़ना चाहिए। इन तीन में भी सर्वप्रथम क्रिया और कर्त्ता को समझना है। क्रियाएँ भी प्रथम, मध्यम, उत्तम तीन पुरुषों में होती हैं। ऋषि जब परोक्ष स्तोतव्य विषयों की स्तुति करता है तो वे परोक्षकृत मन्त्र होते हैं और जब देवता को सम्मुख देखते हुए ऋषि देवता से प्रार्थना करता है तो वे प्रत्यक्षकृत मन्त्र होते हैं, इसी प्रकार जब ऋषि देवता के साथ अभिन्न होकर तादात्म्य भाव को प्राप्त होकर स्वयं देवता की महिमा गाता है तो वह आध्यात्मिक मन्त्र समझा जाता है।

प्रकृत में ऋषि इन्द्र और युष्मद् के परस्पर सम्बन्ध को बताता हुआ कहता है- इस संसार में जीव का मुख्य उद्देश्य है कामादि शत्रुओं का पराजय, पराभव। जीव के ज्ञान को आवृत करने वाली शक्ति का नाम वृत्र है। जीव के पास ज्ञान के तीन साधन हैं - इन्द्रियाँ, सामान्य बुद्धि और विवेक-बुद्धि। जब जीव का ज्ञान आवृत होता है तो विवेकबुद्धि तो सर्वथा ही आवृत हो जाती है, सामान्य बुद्धि भी प्राय: आवृत हो जाती है, केवल इन्द्रिय दृष्टि बचती है अर्थात् इन्द्रियों को जो अच्छा बुरा लगता है उतना ही उसे ज्ञान रहता है। जो परिणाम को देख पाती है बुद्धिशक्ति, वह वृत्र के द्वारा ढक जाती है। मन्त्र में यह कहा गया कि वृत्र के संहार करने के समय इन्द्र ने तुम्हारा वरण किया अर्थात् तुम्हारी बुद्धि में जो ज्ञान था उसका वरण किया और तुमने माने तुम्हारे ज्ञान ने इन्द्र का वरण किया, इस प्रकार तुम्हारा जो ज्ञान था वह प्रोक्षित हो गया। प्रोक्षण यहाँ शुद्धि का प्रतीक है। जैसे आकाश में सूर्य के रूप में इन्द्र ने बादलों में रहने वाले जल का वरण किया और उन जलों ने सूर्य का वरण किया, इस प्रकार वृत्र ने जो जल प्रवाह को रोक लिया था, वह बहने लगा, वह जल सूर्य किरणों से प्रोक्षित हो गया, शुद्ध हो गया।

आगे कहा गया कि अग्नि के लिये जो सेवित है ऐसे तुमको मैं प्रोक्षित करता हूँ तथा अग्नि और सोम दोनों के लिये जो सेवित है ऐसे तुमको मैं प्रोक्षित करता हूँ। यह सारा संसार अग्निसोमात्मक है। आयुर्वेद में सभी भोज्य पदार्थों को दो भागों में बाँटकर बताया गया है कि कुछ पदार्थ आग्नेय होते हैं कुछ सोम्य। आग्नेय पदार्थ शक्ति देने वाले होते हैं और सौमेय शान्ति, दीर्घायुष्य देते हैं। व्यक्ति को शक्ति भी चाहिए और शान्ति भी।

दिव्य कर्म करने के लिये तुम इस तरह शुद्ध-पवित्र-निर्दोष बनो। दिव्य कर्म तभी हो पायेंगे जब शुद्धि–पवित्रता पूर्ण रूप से घटित होगी। देवों की पूजा करने के लिये भी शुद्ध बनो। अशुद्धि और यजन का परस्पर महाविरोध है। अशुद्ध को यजन के क्षेत्र से बाहर रखा गया है।

तुम यदि अशुद्ध रहोगे तो अवश्य पराभूत हो जाओगे, बल्कि ऐसे

प्रसङ्गों में जोर देने के लिए भविष्य में होने वाली घटना को भी भूतकाल में ही कहते हैं। जैसे कोई कहता है- 'वृष्टिश्चेद् भविष्यति सम्पत्स्यन्ते शालयः'। इस वाक्य को जब वहीं पर खड़ा दूसरा व्यक्ति सुनता है तो उसे झिड़क कर कहता है- क्या बोल रहा है, ऐसा कह कि 'वृष्टिश्चेद् भविष्यति सम्पन्नाः शालयः'। प्रकृत में भी यह कहा गया कि जो तुम अशुद्ध रहोगे तो समझ लो पराभूत हो गए। (यत् वः अशुद्धाः पराजघ्नुः) अतः मैं तुम्हारी शुद्धता करता हूँ (तत् वः शुन्धानि) कहने का सार यही है जो चाहता है कि मैं अपने जीवन में विजय को प्राप्त करूँ शुद्धता उसके लिये अनिवार्य तत्व है।

अब यदि ये पूछें कि इस अशुद्धि का स्वरूप क्या है तो यही कहना होगा कि जो भी कुटिलता है, स्वार्थ है, सुख भोग में रुचि और उसमें आसक्ति है, काम-क्रोध-लोभादि विकारमय जीवन है, मन का अशिवसंकल्पों में रमना या यों कहें चञ्चलता अथवा जड़ता में मन का डूबे रहना है, चित्त का व्यर्थचिन्तन व अनावश्यक संकल्पो में बहते रहना या दूसरे शब्दों में चित्त का भूतकाल की बीती बातों में या भविष्य की कल्पनाओं में घूमते रहना है, कहीं अहंभावना और कहीं हीनभावना का होना है, पद-पदार्थ-सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान-योग्यता ऐन्द्रियक सुखों व परिस्थिति के आधार पर अपने को या किसी को विशेष और किसी को अविशेष समझना है, जगत्-जगतपति या स्वयं के लिये अनुपयोगी होकर जीना है, चित्त का कभी भी शान्त न होना है, अपने प्रभु से विमुखता और संसार की सम्मुखता का बने रहना है, कामनापूर्ति के सुख और तज्जन्य प्रलोभन और अपूर्ति के दुःख और तज्जन्य भय में आबद्ध रहना है, दूसरों के सुखों को देखकर हृदय की प्रसन्नता का अभाव और पर दुःखो में हृदय का करुणित न होना है, ये और इसी प्रकार के सभी चित्र व्यक्ति कि अशुद्धि को दर्शाते हैं। व्यक्ति के मन-बुद्धि व इन्द्रियों में अशुद्धि के रहते मुक्त जीवन की कल्पना असम्भव है। साधना के नाम पर संसार के अलग-अलग भूभाग में साधक जो कुछ करते हैं, उसके द्वारा अशुद्धि का ही तो क्षय किया जाता है। पतञ्जलि के सम्पूर्ण योगशास्त्र में योगानुष्ठान का जो फल दर्शाया

है, वह यही तो है- अशुद्धि का क्षय और ज्ञान की दीप्ति। सार रूप में ऐसा कह सकते हैं - अशुद्धि का परिणाम है बन्धन और शुद्धि का परिणाम मुक्ति। अशुद्धि का अनुपात जैसे-जैसे बढता जाता है - उसी के परिणाम होते हैं अधिकाधिक अपकर्म, शास्त्र विरुद्ध कर्म, स्वेच्छाचारिता, अपने को सुख और दूसरों को दु:ख, अपना पूरा ध्यान और दूसरों की उपेक्षा इत्यादि। दूसरी तरफ शुद्धि के परिणामस्वरूप व्यर्थ चिन्तन व चञ्चलता की निवृत्ति तथा एकाग्रता की प्राप्ति, अशान्ति की निवृत्ति व शान्ति की प्राप्ति, अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य की निवृत्ति धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य की सम्प्राप्ति, स्वार्थ की निवृत्ति परोपकार में प्रवृत्ति, भेद की निवृत्ति सर्वभूतात्मभाव की प्राप्ति, शोक-मोह की निवृत्ति प्रेम की प्राप्ति, संशय व भ्रान्ति की निवृत्ति असन्देहता की प्राप्ति, संसार की अर्थात् सुख-दु:खभोग की निवृत्ति और भगवान् की प्राप्ति इत्यादि है।

★ ★ ★

(११) अदिति के सम्पर्क में

ऋषि:-परमेष्ठी प्रजापति:। देवता- यज्ञ:। छन्द:- स्वराड्जगती।

शर्मास्यवधूतꣳरक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु। अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न: प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु।।१.१४।।

(शर्म असि) त सुखस्वरूप है, (रक्ष: अवधूतं) राक्षसभाव दूर हुए (अरातय: अवधूता:) अनुदार भाव दूर हटा दिए गए, (अदित्या त्वग् असि) अदिति की अर्थात् स्वाधीनता या अदीनभाव की तू त्वचा (संस्पर्श) है। (अदिति: त्वा प्रतिवेत्तु) यह स्वाधीनता अदीना देवमाता तुझे जान लेवे अर्थात् स्वाधीन होने का भाव तुम में जाग जाए। (अद्रि: असि) दिव्य गुणों के विकास के कारण तुम विदारण के अयोग्य धर्मपथ से विचलित न होने

योग्य पर्वत के समान ही हो। (न दृ विदारणे) (वानस्पत्यः) तेरा यह सारा क्षेत्र (अन्नमय आदि कोश) वनस्पति का ही विकार है अर्थात् तू ने वनस्पति भोजन को ही स्वीकार किया है। (ग्रावा असि) तू वेदवाणियों के उच्चारण करने वाला है (गृ शब्दे) अथवा ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण करने वाला है (ग्रह् वन् धातोरादन्तादेशः)। (पृथुबुध्नः) तुम पृथु विस्तीर्ण बुध्न वाले हो। बुध्न कहते हैं मूल को। तुम्हारे व्यक्तित्व के मूल में विशाल ज्ञान है, विवेक है, धर्म है, जीवन में आने वाले सुख-दुःख के बवण्डर हानि-लाभ, मान-अपमान के झोंके उस गहराई में पहुँची जड़ों को उखाड़ नहीं सकते। (त्वा अदित्याः त्वक्) तुझे अदिति का सम्पर्क संस्पर्श (प्रतिवेत्तु) प्राप्त है। तू सदा अदीन देवमाता के सम्पर्क में निवास कर।

इस मन्त्र में जीव की कुछ विशेषताएँ बताते हुए उसके कर्त्तव्यों का बोध कराया गया है। हर एक मनुष्य को यह अनुभव करना चाहिए कि मैं शर्म रूप हूँ, सुखस्वरूप हूँ, मैं ग्रावा हूँ, मैं पृथुबुध्न हूँ, अदिति=स्वाधीनता का मैं संस्पर्श हूँ। अपने आत्म गौरव का स्मरण करते हुए उसे हर अवस्था या परिस्थिति में अपने भीतर धीर-वीर गम्भीर, प्रशान्त रहना चाहिए। जो व्यक्ति परिस्थितियों में अपने आपको मिलाता नहीं है, वह सदा स्वाधीन बना रहता है। व्यक्ति यदि यह देख पाए कि मैं हूँ अपरिवर्तनशील, मुझे इस जागतिक जीवन से कुछ नहीं चाहिए तो इस ज्ञान का आदर करते ही व्यक्ति तत्काल स्वाधीन हो जाता है। कामना ही वह मूल बन्धन है मूल ग्रन्थि है कि व्यक्ति को पराधीनता के जाल में फँसा देती है। काठक श्रुति में यही कहा है-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। (२.३.१४)

तथा अगली श्रुति में भी कहा है-

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।। (२.३.१५)

जब व्यक्ति अपनी सब इच्छाओं को त्याग देता है तो यह मर्त्य प्राणी तत्काल अमृत हो जाता है, समस्त वेदान्त वाक्यों का इतना ही सार है। ये ही तो हृदय की अविद्या रूपी गाँठे हैं, जिनके चलते व्यक्ति अपने को एक शरीर मानता हुआ यह मेरा धन है, मैं सुखी हूँ- दु:खी हूँ- ऐसा सोचने लगता है। जैसे ही उसे शास्त्र वचन या गुरुवाणी से पता चलता है- तू तो शुद्धस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, सुखरूप है तो अपने को शरीर समझने से शरीर सम्बद्ध जो तरह-तरह की कामनाएँ, मोह, और आसक्ति उत्पन्न हो गई थी वे- सब तत्काल छूट जाती हैं और व्यक्ति अदिति माता का निष्पाप शिशु बन जाता है। सब बन्धनों से मुक्त होकर स्वाधीन हो जाता है।

★★★

(१२) शक्ति धन सदिच्छा

ऋषि:-परमेष्ठी प्रजापति:। देवता- इन्द्र:। छन्द:- भुरिग् ब्राह्मी पङ्क्ति।

मयी॒दमि॑न्द्र॒ऽइन्द्रि॑यं दधात्व॒स्मान् रायो॑ म॒घवा॑नः सचन्ताम्।
अ॒स्माक॑ꣳ सन्त्वा॒शिष॑: स॒त्या न॑: सन्त्वा॒शिष॒ऽउप॑हूता पृथि॒वी
मा॒तोप॒ मां पृ॑थि॒वी मा॒ता ह्व॑यताम॒ग्निराग्नी॑ध्रात् स्वाहा॑॥२.१०॥

(इन्द्र:) प्रभु (मयि) मुझमें (इदम् इन्द्रियं दधातु) यह इन्द्रियशक्ति स्थिर रखे (राय: मघवान: अस्मान् सचन्ताम्) यज्ञादि उत्तम कार्यों के सम्पादन के लिए पूजित धन हमें प्राप्त हो (अस्माकं सन्तु आशिष:) शक्ति और धन के होने पर विविध कार्यों के करने के लिए हमारी इच्छाएँ हों। (न: आशिष: सत्या: सन्तु) वे हमारी इच्छाएँ सत्य हों, असद् इच्छाएँ न हों। जिन इच्छाओं में धन का उपयोग होने पर मनुष्य 'धन्य' बनता है वे इच्छाएँ हों। (पृथिवी माता) यह पृथिवी रूपी माता (उपहूता) मेरे द्वारा पुकारी जाए और (माम्) मुझको (पृथिवी माता) यह भूमि माता (उपह्वयताम्) अपने समीप पुकारे। मैं पृथिवी

को माता समझूँ और पृथिवी मुझसे पुत्रवत् प्रेम करे। (आग्नीध्रात् अग्निः) आग्नीध्र के लिए शतपथकार ने कहा- **द्यावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रः** (श०- ८.१.४१) आग्नीध्र का अर्थ है 'द्यावापृथिवी' (आग्नीध्रात्) इस अग्नि के आधारभूत पृथिवी से (अग्निः) पृथिवी का यह मुख्य देव अग्नि (स्वाहा) मुझ में सुहुत हो। अध्यात्म में पृथिवी शरीर है। पृथिवीस्थ देवों का मुख्य देवता अग्नि है। इस शरीर में भी मुख्यता इस अग्निदेव की है। जब तक है तभी तक जीवन है।

मन्त्र का भावार्थ यह है कि मुझ में शक्ति हो, सुपथ से अर्जित धन हो। मेरा धन शुभ इच्छाओं से पूर्ण हो। मैं सदा इस पृथिवी माता का प्रिय बनकर रहूँ। मुझ में अग्नि अर्थात् जीवन हो जिससे मेरे द्वारा यज्ञादि कार्य सम्पन्न हो सकें। यहाँ मन्त्र में प्रवृत्ति पथ का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। प्रवृत्ति पथ से चलने वाले साधक के द्वारा शास्त्र विधि के अनुरूप ऊर्जा का अधिकतम सदुपयोग किया जाता है, जब कि निवृत्ति पथ के साधक के द्वारा ऊर्जा को शान्त छोड़ दिया जाता है और साधक स्वयं अपनी आत्मा में स्थित हो जाता है। किन्तु निवृत्ति पथ के विषय में श्री अरविन्द व अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की दृष्टि यह है कि निवृत्ति पथ में भी कामना की ही निवृत्ति की जाती है न कि कर्म की निवृत्ति। उनका कहना है कामना की निवृत्ति ही सच्ची निवृत्ति है। कामना के साथ जुड़ा कर्तृत्व और फल की इच्छा भी कामना की निवृत्ति में स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं। वस्तुतः वैदिक कर्मयोग में कर्मों का निरास न करके केवल कर्मफल का ही निरास किया जाता है।

★ ★ ★

(१३) सृष्टि यज्ञ का उद्देश्य

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता- सविता। छन्दः- भुरिग्बृहती।

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव॥२.१२॥

(सवितः देव) हे सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाले, सृष्टियज्ञ के प्रवर्त्तक देव, सब साधनों को देने वाले, ज्ञान की ज्योति से दीप्त तथा उपासकों को ज्ञान ज्योति से द्योतित करके वाले (देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा) प्रभो! (ते एतं यज्ञम्) आपके इस सृष्टियज्ञ को (बृहस्पतये) (बृहतः पतिः) विशाल हृदय के पति के लिए और (ब्रह्मणे) उत्कृष्ट सात्त्विक गति वालों में भी सर्वोत्कृष्ट सम्पूर्ण वेदज्ञान से परिवृढ ब्रह्मा के लिए (प्राहुः) कहते हैं। हे प्रभो आप (तेन) इसी उद्देश्य से कि मैं बृहस्पति व ब्रह्मा बन सकूँ (यज्ञम् अव) तदर्थ मुझमें यज्ञभाव को सुरक्षित कीजिए। (तेन) इसी उद्देश्य से (यज्ञपतिम्) यज्ञ के रक्षक यजमान की रक्षा कीजिए (तेन) इसी उद्देश्य से (माम् अव) मेरी रक्षा कीजिए।

मन्त्र में यह कहा गया है कि स्रष्टा ने यह सृष्टि बृहस्पति और ब्रह्मा पद तक पहुँचने के लिए बनाई है। जैसे कोई कह दे कि प्रधानमन्त्री पद तक पहुँचने के लिए राजनीति में प्रवेश किया है। ओलम्पिक में स्वर्णपदक जीतने के लिए खेल जगत् में प्रविष्ट हुआ हूँ। मुझे होली-वुड का स्टार बनना है, मुझे विज्ञान के क्षेत्र में एक विशिष्ट देन देनी है इत्यादि। बस, ठीक इसी शैली में यह बात कह दी है कि प्रत्येक जीव को यह अधिकार मिला है कि वह बृहस्पति या ब्रह्मा पद तक अपनी दौड़ लगा सकता है और केवल दौड़ ही नहीं लगा सकता बल्कि वहाँ तक पहुँच सकता है। लौकिक जगत् में ऐसा नहीं होता कि सौ व्यक्ति किसी काम को करें और सभी को वह लक्ष्य प्राप्त हो जाए। जैसे ऊपर बहुत-सारे उदाहरण गिनाए एक समय में एक ही व्यक्ति को वह विशिष्ट पद प्राप्त होता है। यहाँ तो प्रयासरत सभी बृहस्पति या ब्रह्मा बन सकते हैं, उसके

लिए जो आवश्यक साधना करनी चाहिए वह तो करनी होगी ही। बृहस्पति है देवों का पुरोहित और ब्रह्मा का प्राचीन परम्परागत अर्थ है- चारों वेदों का ज्ञाता अर्थात् उन्नत ज्ञान सम्पन्न। बृहस्पति बनने के लिए हृदय की विशालता चाहिए। मनुष्य के व्यक्तित्व में यह हृदय ही है जो विशाल होने लगता है तो सम्पूर्ण विश्व को अपने में समेट लेता है और संकुचित होने लगता है तो इतना संकुचित कि उसे अपना शरीर व अपने सुखों के अतिरिक्त कुछ दिखता ही नहीं। पशु को यदि देखा जाए तो यही होता है कि उस को केवल अपने सुख दिखाई देते हैं या अधिक से अधिक प्रकृति की एक व्यवस्था के अनुसार कुछ समय तक उनके बच्चे। अड़ोसी-पड़ोसी, विश्व को वह सर्वथा ही नहीं जानता। इसी प्रकार बाल्यकाल में तो मनुष्य भी कुछ अपवादों को छोड़कर पशु ही होता है। योग्य माता-पिता, गुरु-आचार्यों के सम्पर्क से, उनके सहयोग व मार्गदर्शन से एक विचारशील मनुष्य बनता है और फिर देवत्व की ओर आरोहण करता हुआ अन्त में बृहस्पति तक पहुँच जाता है।

इसी प्रसङ्ग को एक दूसरी दृष्टि से देखें तो बाल्यकाल में तमोगुण की प्रधानता होती है, धीरे-धीरे बालक के शारीर विकास के साथ मन का भी विकास होता जाता है। युवावस्था में मनुष्य रजोगुण से भरपूर होता है। यह एक सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। भगवान् शंकराचार्य जी जैसे लोगों की युवावस्था भी सत्त्वगुण से परिपूर्ण होती है। जैसे-जैसे जीवन के अनुभव व ज्ञान बढ़ता जाता है, विकास की उस प्रक्रिया में सत्त्वगुण की वृद्धि होती रहती है। वानप्रस्थ या संन्यास उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सत्त्व के ही परिणाम हैं। सत्त्व की उस प्रकृष्टतम अवस्था की प्राप्ति है ब्रह्मा पद की प्राप्ति है। जिसके लिए ऋग्वेद के ज्ञानसूक्त में कहा गया कि वह मौन रूप में इस सृष्टि यज्ञ को निहारता रहता है और जहाँ कहीं कोई त्रुटि करता हुआ दिखाई देता है तो उसे ठीक करता रहता है (ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्) ऋग्वेद के इस अत्यन्त महिमाशाली सूक्त का ध्यान से अवलोकन करने पर पता चलता है

कि एक ज्ञानी की प्रशंसा और अज्ञानी की निन्दा में ही वह सम्पूर्ण सूक्त है। उन ज्ञानियों का मुकुट-मणि है- ब्रह्मा। इस प्रकार मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गई है कि मैं बृहस्पति और ब्रह्मा पद को आपकी सहायता के बिना नहीं प्राप्त कर सकता। मैं रक्षा का इच्छुक आपकी शरण में हूँ।

★★★

(१४) ओ३म् का प्रतिष्ठापन

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता- बृहस्पतिः। अग्निः,यज्ञः। छन्दः-विराड्जगती।

मनो॑ जू॒तिर्जु॑षता॒माज्य॑स्य॒ बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमि॒मं त॑नो॒त्वरि॑ष्टं य॒ज्ञꣳसमि॒मं द॑धातु।
विश्वे॑ दे॒वास॑ऽइह मा॑दयन्ता॒मो३म्प्रति॑ष्ठ॥२.१३॥

(जूतिः मनः आज्यस्य जुषताम्) तेरा वेगवान् मन घृत का सेवन करे, (बृहस्पतिः इमं यज्ञं तनोतु) ज्ञान का स्वामी इस यज्ञ को फैलाए (इमं यज्ञम् अरिष्टं संदधातु) इस यज्ञ को हिंसारहित करके सम्यक् धारण करे। (विश्वे देवासः इह मादयन्ताम्) सब देव यहाँ आनन्दित हों, (ओ३म्) हे ओंकार जगदीश्वर! प्रकृत्यादि के पालन करने हारे आप इस संसार वा विद्वानों के हृदय में (प्रतिष्ठ) कृपा करके इस यज्ञ या वेदविद्या को स्थापन कीजिए।

इस मन्त्र में मन का विशेषण दिया 'जूतिः'। यह मन बहुत ही वेगवान् है। किसी तीव्र वाहन को चलाने वाला (चालक, सारथि) यदि कुशल, बुद्धिमान् व संयमी न हो तो सुख मिलने की बजाय संकट मिलने की ही सम्भावना अधिक रहती है। इसीलिए तो विमान चालकों की बहुत सूक्ष्म व कठोर परीक्षा करने के बाद उन्हें वह पद-भार सौंपा जाता है, साइकिल या ट्रैक्टर चलाने के लिए किसी परीक्षा देने की आवश्यकता नहीं होती। अतः कहा- वेगवान् मन आज्य (घृत) रूपी स्नेह का प्रीति के साथ सेवन करे। मन में जब स्नेह आ जाता है

तो मन सहृदय हो जाता है। दूसरों के सुख-दु:खों को अपने ही सुख-दु:खों के समान देखने लगता है। मन्त्र में बृहस्पति शब्द से ज्ञान के अधिष्ठातृ देवता को कहा गया है। बृहस्पति (ज्ञान-देवता) हमारे इस जीवनयज्ञ [अध्यात्मयज्ञ, शिल्पयज्ञ, व्यवहारयज्ञ, परोपकार यज्ञ, विद्यायज्ञ (ज्ञानयज्ञ)] भौतिक यज्ञ को अरिष्ट (हिंसारहित) बनाकर धारण करे।

व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के स्तर पर जहाँ भी जो कुछ पारस्परिक सहयोग के रूप में शुभ घटित होता है, वह सब यज्ञ ही है। यज्ञ शब्द अपने में भाव व कर्म दोनों ही दृष्टियों से बहुत विस्तार को धारण किए हुए है। यज्ञ को अरिष्ट (हिंसारहित) होना चाहिए। इसी शब्द के समानार्थक एक अन्य शब्द का प्रयोग होता है- 'अध्वर' उस शब्द से भी ठीक यही भाव प्रकट किया जाता है कि जिसमें ध्वर न हो अर्थात् हिंसा न हो। ध्वर धातु का हिंसा अर्थ में प्रयोग होता है। चाहे गृहस्थयज्ञ हो या राजा-प्रजा के द्वारा किया गाय राष्ट्रयज्ञ हो या गुरु-शिष्य के द्वारा सम्पन्न होने वाला ज्ञानयज्ञ अथवा वैश्यकुल के द्वारा चलाया जा रहा व्यवहारयज्ञ या मोक्ष प्राप्ति के लिए अनुष्ठित योगयज्ञ या अध्यात्मयज्ञ हो, सर्वत्र सौहार्द्र व प्रेम की अपेक्षा रहती है, उसी को दर्शाने के लिए मन्त्र में 'यज्ञम्' इस पद का 'अरिष्टम्' यह विशेषण दिया है। यज्ञ के अरिष्ट होते ही जीवन में कितना सौन्दर्य व माधुर्य आ जाता है। यह देखते ही बनता है। मन्त्र में इसके फलितार्थ का कथन किया है कि सब देवशक्तियाँ आनन्दित हो जाएँ। अन्त में उस परम अहिंसक प्रभु से प्रार्थना के रूप में अपनी माँग, अपनी आवश्यकता को भी रखा गया कि हे जगदीश्वर! आप हम सब के हृदय में प्रतिष्ठित हो जाओ, हमारे हृदय में अपनी प्रतिष्ठापना कर दो जिससे हम ऐसा अखण्ड अविनाशी पूर्ण आनन्दमय जीवन जी सकें। क्योंकि सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु सब काल में सब देश में, सब परिस्थितियों में, सब व्यवहारों में, सब कर्मों में, सब बुद्धियों में अखण्ड पूर्ण रूप से मौजूद है। इसलिए समझना होगा कि ऐसे सर्वसमर्थ प्रभु, अद्वितीय

प्रभु चूंकि वे सबके हैं अत: मेरे भी हैं, सब में हैं तो मुझ में भी हैं, सब कालों में हैं तो अभी भी हैं, सब देश में हैं तो यहाँ भी हैं, क्योंकि वे परमकृपालु हैं तो मुझ दीन के भी हैं, पतितपावन व करुणासागर हैं तो मुझ जैसे अज्ञानी व पतित के भी हैं ऐसे प्रभु से केवल हमें प्यार हो जाए, बस, आगे तो वे स्वयं ही सम्भाल लेंगे- ऐसा मन्त्र का संदेश है।

★★★

(१५) अग्नि का शोधन

ऋषि:- परमेष्ठी प्रजापति:। देवता- अग्नि:। छन्द:- अनुष्टुप् भुरिगार्ची गायत्री।

एषा ते॑ऽअग्ने स॒मित्तया॒ वर्ध॑स्व॒ चा च॑ प्यायस्व। व॒र्धि॒षी॒महि॑ च व॒यमा च॑ प्यासिषीमहि। अग्ने॑ वाजजि॒द्वाज॑ं त्वा सस्॒वाꣳस॑ं वाज॒जित॒ꣳसम्मा॑र्ज्मि॥२.१४॥

(अग्ने) हे अग्ने (एषा ते समित्) यह तुम्हारी समिधा है (तया वर्धस्व) इससे तू बढ़ (आ च प्यायस्व च) और हमको भी बढ़ा। (वयं) वर्धिषीमहि) हम बढ़ेंगे (आप्यासिषीमहि च) और बढ़ाएंगे। हे (अग्ने) अग्ने! तू (वाजजित्) अन्न, बल व ज्ञान को जीतने वाला है (वाजं ससृवांसम्) अन्न, बल व ज्ञान को प्राप्त करने वाले अर्थात् उत्पन्न करने वाले और (वाजजितं त्वा) अन्न, बल, ज्ञान आदि को जीतने वाले तेरा सहाय पाकर (संमार्ज्मि) मैं अपना शोधन करता हूँ।

अग्नि और समिधा के रूपक को वेदों में बहुत स्थान मिला है। स्थान-स्थान पर इस बात को देखा जा सकता है- 'अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेन०' हे जातवेद अग्ने यह समिधा तेरा आत्मा है, जैसे इसको पाकर तू बढ़ता है वैसे ही हमको भी बढ़ा। 'समिधाग्निं दुवस्यत' समिधा से अग्नि की परिचर्या करें इत्यादि। अग्नि जाठराग्नि के रूप में हमारे शरीर में रहता है, वह स्पष्ट

ही शक्तिदायक (वाजजित् वाजं ससृवान्) है। उस अग्नि की समिधा आहार द्रव्य है, उससे वह अग्नि बढ़ता है और हमें भी बढ़ाता है। जीवात्मा रूप अग्नि की समिधा हम साधकगण हैं। उत्तम साधक जीवात्मरूप अग्नि को बढ़ाते हैं अर्थात् उसे अभिव्यक्त करते हैं और वह अग्नि साधकों को बढ़ाता है। आचार्य रूपी अग्नि की समिधा शिष्यगण हैं, वे भी परस्पर बढ़ते-बढ़ाते हैं। माता-पिता रूप अग्नि की समिधा पुत्र-पुत्रियाँ हैं, वे भी परस्पर एक दूसरे को बढ़ाते हैं। यहाँ मन्त्र में संमार्ज्मि क्रिया का कर्ता अग्नि से प्रार्थना करने वाला साधक है, वह अग्नि के सहाय से अपने को शुद्ध करता है।

★★★

(१६) प्रभु का प्रतिष्ठापन कैसे सम्पन्न हुआ?

ऋषिः- परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता- अग्नीषोमौ, इन्द्राग्नी। छन्दः- ब्राह्मी बृहती, निचृदतिजगती।

अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोगामि ॥२.१५॥

(अग्नीषोमयोः उज्जितिम् अनु उज्जेषम्) अग्नि और सोमतत्त्व की उत्कृष्ट विजय के पश्चात् मैंने इस प्रभु-प्रतिष्ठापन रूप उत्कृष्ट विजय को पाया। अग्नि तत्त्व ज्ञान[१] का प्रतीक है और सोम सौम्यता व नम्रता का।

१. अथास्य कर्म-वहनं च हविषाम् आवाहनं च देवानाम् यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयक-मग्निकर्मैव तत्। नि०- ७.१.८

(वाजस्य[१] प्रसवेन मा प्रोहामि) वेदवाणी के द्वारा, ज्ञानवचनों के द्वारा मैं अपने आपको परिवर्तित करता हूँ । अपने जीवन को उत्कृष्ट करता हूँ (To change, To modify)। (अग्निषोमौ तम् अपनुदतां यः अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः) अग्नि और सोम जो कि विद्या व विनय के प्रतीक हैं, उस व्यक्ति को दूर करें जो हम सबके साथ अप्रीति करता है और उसके परिणामस्वरूप जिसको हम सब अप्रीति योग्य समझते हैं। (एनम् वाजस्य प्रसवेन) इस समाजहित से द्वेष करने वाले को ज्ञान व शक्ति की उत्पादिका इस वेदवाणी से (अप ऊहामि) मैं दूर करता है (To remove)।

(इन्द्राग्न्योः उज्जितिम् अनु उज्जेषम्) इन्द्र और अग्नि की उत्कृष्ट विजय के पीछे मैंने प्रभु-प्रतिष्ठापन रूप महान् विजय की है। अग्नि 'ज्ञान व प्रकाश का प्रतीक है तो इन्द्र बल[२] का। (वाजस्य प्रसवेन मा प्रोहामि) मैं इस शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति के लिए इस वेदवाणी से अपने को उत्कृष्ट जीवन वाला बनाता हूँ। (इन्द्राग्नी तम् अपनुदतां यः अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः) ये इन्द्र और अग्नि शक्ति और ज्ञान उसको दूर करें जो हम सबके साथ द्वेष करता है और जिसको हम सब अप्रीति योग्य समझते हैं। (एनम् वाजस्य प्रसवेन प्रोहामि) इस समाजद्वेषी व्यक्ति को वेदवाणी के द्वारा अर्थात् शक्ति और ज्ञान के उत्पादन के द्वारा दूर करता रहूँ।

इस मन्त्र में शत्रु को दूर करने का उपदेश है। अग्नि और सोम तथा इन्द्र और अग्नि संयुक्त देवता हैं। ये देवताओं के जोड़े मिलकर कार्य करते हैं। अग्नि और सोम जैसा कि मन्त्रार्थ में दर्शाया ज्ञान व सौम्यता या नम्रता के प्रतीक हैं। व्यक्ति के पास जैसे कोई अतिरिक्त विशेषता आती है तो उससे व्यक्ति का प्रायः अहं भी बढ़ने लगता है, इसलिए मन्त्र में सोमशक्ति (सौम्यता) को साथ में रखने के लिए कहा अथवा ऐसा समझें अग्नि है

१. वाग्वै वाजस्य प्रसवः। (तै०- २.३.२.५)।
२. अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधः, या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। नि०- ७.३.१०।

आन्तरिक दृष्टि और सोम है व्यवहार में सौम्यता। इन दोनों की विजय से अर्थात् इन दोनों के सहयोग से प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप महान् विजय को मैंने पाया। वाज के प्रसव से मैंने अपने जीवन का रूपान्तरण किया। वाज का अर्थ है शक्ति व ज्ञान। इसी मन्त्र के व्याख्यान में जैसा कि हमने दिखाया कि यहाँ वेदवाणी को ही वाज का प्रसव कहा गया है। वेदवाणी जहाँ हमें ज्ञान देती है वहाँ शक्ति भी देती है जिससे हम काम-क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पाने में समर्थ हो पाते हैं। अग्नि और सोम के समक्ष साधक ने अपना आत्मनिवेदन किया कि ये दोनों उस व्यक्ति को दूर करें जो पूरे समाज से द्वेष कर रहा है। अन्त में पुन: वही बात दोहरा दी कि वाज के प्रसव इस वेदवाणी के द्वारा मैं उस समाजविरोधी तत्त्व को दूर हटाता हूँ। एक बहुत ही आवश्यक और ध्यान देने योग्य बात है कि वेद में अस्मद् शब्द जब बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है तो उस समय सम्पूर्ण अस्तित्व के संरक्षक के रूप में प्रयोग होता है। अत: यहाँ शब्दों में जो एक वचन और बहुवचन का प्रयोग है, उससे एक विशिष्ट अर्थ ग्रहण कराना चाहती है वेदमाता जो 'एक' सम्पूर्ण अस्तित्व के लिए खतरा बन गया वह अवश्य ही हटाने योग्य होता है और उसे ज्ञान व शक्ति की उत्पादिका वेदवाणी के द्वारा हटाया ही देना चाहिए।

इसी प्रकार मन्त्र के दूसरे भाग में कहा कि इन्द्र और अग्नि अर्थात् बल व प्रकाश के साझे प्रयोग से मैं विजयी होऊँगा और वाज के प्रसवरूप वेदवाणी के द्वारा मैं अपना रूपान्तरण करूँगा और समाजविरोधी तत्त्वों को भी हटाकर सम्पूर्ण अस्तित्व को भागवत ज्ञान-बल-आनन्द से ओत-प्रोत करूँगा। वेद में देवताओं का उदाहरण रखकर मनुष्य को दिशा दी गई है कि 'यद् देवा अकुर्वन् तदहं करवाणि' अर्थात् जो देवों ने किया वही मुझे करना है, यही विजय का सूत्र है। मन्त्र में अग्नीषोमयोरुज्जितिम् अनूज्जेषम् और इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषम् कहकर इसी सत्य को प्रकट किया है। तथा वाजस्य प्रसवेन अर्थात् वेदवचन (सत्य वचन) को शत्रुनाश में साधन बनाया है।

यहाँ अपने पाठकों का एक बात की ओर ध्यान दिलाना चाहूँगा। 'इन्द्राग्न्योरुज्जितिम्०' इस वेदमन्त्र में 'इन्द्राग्नी' इस रूप में जो देवताओं का क्रम रखा है, उसमें इन्द्र के कार्य को रेखाङ्कित करना चाहते हैं, उस पर जोर देना चाहते हैं। अग्नि देवता के द्वारा प्रकाश प्रदान रूप अपना कार्य कर दिए जाने पर भी इन्द्र यदि वहाँ नहीं पहुँचा तो अकेले उस प्रकाश से कुछ भी बनने वाला नहीं है। यद्यपि प्रकाश की पहले आवश्यकता होती है फिर भी इन्द्र की शक्ति प्रयुक्त होने पर ही उसकी चरितार्थता हो पाती है। छन्दस्यनेकमपि०- ८.१.३५ सूत्रभाष्य में पतञ्जलि ने एक उदाहरण दिया है कि 'अग्निर्हि पूर्वमुदजयत् तमिन्द्रोऽनूदजयत्' अर्थात् प्रथम अग्नि ने विजय प्राप्त की, उसके पीछे इन्द्र विजयी हुआ। अत: कार्य करते समय तो अग्नि की पूर्व उपस्थिति तथा इन्द्र की उपस्थिति पश्चाद् रहेगी, किन्तु शब्द प्रयोग में इन्द्र को पहले बोला जाएगा। जैसे कि संस्कार पहले होते हैं तब उन संस्कारों की कोई स्मृति होती है किन्तु शब्द प्रयोग में तो स्मृति का पूर्व प्रयोग होगा। जैसा कि 'जातिदेशकाल.....स्मृतिसंस्कार-योरेकरूपत्वात् (४.९) इस योगसूत्र में प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार प्रकृत में भी 'द्वन्द्वे ध्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन' (भा०वा०- २.२.३६) इस व्याकरण नियम को इस प्रकार समझना होगा कि कहीं 'च' इस शब्द के अर्थ में होने वाले द्वन्द्व समास में घिसंज्ञक शब्द (ह्रस्व इकारान्त- उकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द) का प्रयोग हो- जैसे कि प्रकृत में अग्नि और दूसरा कोई अजादि-अदन्त (अकारान्त) शब्द का प्रयोग हो जैसे कि इन्द्र तो अजादि-अदन्त (अकारान्त) शब्द का ही पूर्वप्रयोग होगा न कि घिसंज्ञक अग्नि, वायु इत्यादि का। इस प्रकार 'इन्द्राग्नी' यह मन्त्रगत प्रयोग सिद्ध होता है।

★★★

(१७) विमोचन

ऋषिः- वामदेवः देवता- प्रजापतिः। छन्दः- निचृद्बृहती।

कस्त्वा॒ विमु॑ञ्चति॒ स त्वा॒ विमु॑ञ्चति॒ कस्मै॑ त्वा॒ विमु॑ञ्चति॒ तस्मै॑ त्वा॒ विमु॑ञ्चति। पोषा॑य॒ रक्ष॑सां भा॒गोऽसि ॥२.२३॥

जब तक अज्ञान है तब तक जीव राक्षसी भाव, विचार व कर्मों का ही भाग बना रहता है अर्थात् उसी में रचा-पचा रहता है। मन्त्र में कहा कि जो तू आज राक्षसी वृत्तियों का भाग बना हुआ है (=रक्षसां भागोऽसि) कौन है तुझे इस अज्ञानमय जीवन से छुड़ाता है (=कस्त्वा विमुञ्चति) इसका उत्तर दिया- वही प्रजाओं का रक्षक प्रभु तुझे इस सबसे छुड़ाता है (=स त्वा विमुञ्चति) फिर प्रश्न उठा कि किस प्रयोजन के लिए वह तुम्हें इस राक्षसी जीवन से छुड़ा रहा है (=कस्मै त्वा विमुञ्चति) इसके उत्तर में कहा- उस पोषण युक्त जीवन के लिए वह इस राक्षसी जीवन से छुड़ा रहा है (=तस्मै त्वा विमुञ्चति पोषाय)।

मनुष्य यदि अपने जीवन का अवलोकन करे तो वह यह पाएगा कि अनेकानेक विकार उसे घेरे रहते हैं- कहीं काम तो कहीं क्रोध, कहीं लोभ तो कहीं ईर्ष्या, कहीं अहंकार तो कहीं घृणा इत्यादि। ये विविध राक्षसी वृत्तियाँ, भाव या विचार व्यक्ति को ऐसे ही खाते रहते हैं जैसे लकड़ी को दीमक खा जाती है या अनाज को घुण खा जाता है। किसी भी समस्या का समाधान उस समस्या के देखने में ही छिपा रहता है। यदि व्यक्ति अपनी गहरी आँखों से देख सके तो उसे अपने अन्दर ही उसकी अपनी हानि करने वाले भाव या विचार दिखाई देने लगते हैं। मन्त्र में यह कहा गया कि यह जो देखने का सामर्थ्य उत्पन्न हुआ, यह उसी प्रजापति की कृपा का फल है। उसी की कृपा के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने राक्षसी बन्धनों को काटने या उनसे अपने आपको मुक्त करने में समर्थ हो पाता है।

यद्यपि शास्त्रों में देव और असुर दोनों को ही प्रजापति की सन्तान कहा है। असुर बड़े भाई हैं देव छोटे; क्योंकि असुर पहले पैदा होते हैं, इसीलिए बाल्यकाल में असुरभावों की प्रबलता रहती है। असुरभाव अर्थात् स्वार्थभाव, सभी इन्द्रियों के उनके अपने-अपने विषय बाल्यावस्था में प्रधानता से कार्यरत रहते हैं, किन्तु शनैःशनैः जैसे-जैसे दैवी वृत्तियाँ अस्तित्व में आती हैं अर्थात् व्यक्ति में जब दैवी वृत्तियों का जन्म हो जाता है तो वे उन आसुरी भावों को कार्य नहीं करने देती, आसुरीभावों के ही विकसित या विस्तृत रूप हैं राक्षसीभाव। कदाचित् किसी काल विशेष में या व्यक्ति में दैवी वृत्तियों को अपना काम करने का मौका नहीं मिलता या किसी कारण विशेष से किसी परिस्थिति विशेष में उनका जन्म नहीं हो पाता तो वे आसुरीभाव ही बढ़कर राक्षसीभावों का रूप धारण कर लेते हैं। आसुरीभावों में तो स्वार्थ प्रबल रहता है, किन्तु राक्षसीभाव हिंसाप्रधान हो जाते हैं, इसलिए उनकी उपस्थिति में पोषण मिलना असम्भव ही हो जाता है। इस प्रकार एक अर्थ में कहना चाहिए कि प्रजापति अपनी दैवी प्रजा के द्वारा आसुरी व राक्षसी प्रजा का निरास करता रहता है जिससे सृष्टि को पोषण मिलता रहे।

★★★

(१८) अनुमार्जन

ऋषिः- वामदेवः देवता- त्वष्टा। छन्दः- विराट्त्रिष्टुप्।।

सं वर्चसा॑ पयसा॑ सन्तनूभि॒रग॑न्महि॒ मन॑सा॒ सꣳशि॒वेन॑।
त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॒ विद॑धातु॒ रायोऽनु॑मार्ष्टु त॒न्वो॑ यद्विलि॑ष्टम्
॥२.२४॥

(वर्चसा, पयसा, तनूभिः) तेजस्विता, दूध, पुष्ट शरीर तथा (शिवेन मनसा सम् अगन्महि) उत्तम मन से हम युक्त हुए हैं या युक्त होवें। (सुदत्रः

त्वष्टा) उत्तम दाता त्वष्टा (राय: विदधातु) हमें अनेक प्रकार का धन देवे। (तन्व: यद् विलिष्टम्) हमारे शरीरों की जो न्यूनता हो (लिश अल्पीभावे) ([तत्] अनुमार्ष्टु) उसे दूर करें उसका शोधन कर डालें।

वैदिक ऋषि जीवन को सर्वविध पूर्णता से युक्त देखना चाहते हैं- स्वस्थ शरीर, उसका साधन पोषक पय (दूध) 'पय' में सब प्रकार से शरीर के आप्यायन का भाव छुपा है, शारीर तेज जो कि संयम व जितेन्द्रियता का फल है, इन सबके साथ जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही गई वह है 'शिवेन मनसा' शिव मन के साथ संगत होवें। वैदिक संस्कृति की यह सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है जो कि बाह्य साधनों या धन ऐश्वर्य के साथ शिव मन की संकल्पना है। वेदों में सर्वत्र ओर से छोर तक यह सूत्र पिरोया हुआ मिलता है- 'शिवेन मनसा'। अन्यत्र भी कहा है- 'तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु' मेरा मन शिवसंकल्पों से ओत-प्रोत रहे। यहाँ हम स्पष्ट रूप से यह भी देख सकते हैं बाह्य जीवन के प्रति यदि उनका उपेक्षाभाव होता जो वे ऐसी प्रार्थना कैसे करते कि 'त्वष्टा सुदत्रो विदधातु राय:' उत्तमरूपों का निर्माणकर्ता त्वष्टा उत्तम धनों को प्रदान करे। शरीरों में कुछ न्यूनता हो तो त्वष्टा देव उसको ठीक कर दे।

यह जो प्रार्थना होती है- इसका ठीक-ठीक अभिप्राय इस रूप में लेना चाहिए- जिस विषय में हम प्रार्थना कर रहे हैं, उसकी अन्तिम आवश्यकता का हमें अनुभव होने लगे। हमारे व्यक्तित्व का प्रत्येक घटक उसे पाने के लिए उत्कण्ठित हो जाए। हमारे रक्त का अणु-अणु उस प्रार्थ्यमान विषय की उपयोगिता व आवश्यकता को तीव्रता के साथ महसूस करने लगे। इस भावविशेष के साथ यदि प्रार्थना की जाती है तो उसका अवश्य प्रत्युत्तर मिलता है। जिन विषयों की, जिन पदार्थों की वैदिक ऋषि प्रार्थना कर रहे हैं, इसका सीधा-सा अर्थ है कि उन्हें जीवन की पूर्णता के लिए उन-उन विषयों की आवश्यकता अनुभव हो रही है।

किसी बात को जोर देने के लिए सकारात्मक व नकारात्मक दोनों तरफ से कहा जाता है। जैसे तुम सदा धर्म का ही आचरण करो अधर्म का नहीं। प्रकृत में भी पहले तो यह कहा कि 'वर्चसा पयसा तनूभिः सम् अगन्महि' अर्थात् हम उत्तम शरीरों से युक्त हों और फिर यह भी कह दिया 'अनुमार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम्' शरीर की जो न्यूनता है त्वष्टा उसका अवश्य शोधन, अनुमार्जन कर दे। संस्कृत भाषा का यह नियम है कि जब किसी क्रिया पद पर जोर देना चाहते हैं तो उसे वाक्य के आदि में रखते हैं। जैसा कि यहाँ 'अनुमार्ष्टु' क्रिया को वाक्य के आदि में रखा है। यदि 'ग्रामं गच्छ' कहते हैं तो सामान्य कथन माना जाता है किन्तु जब कहते हैं 'गच्छ ग्रामम्' तो उसका तात्पर्य अवश्य गमन में होता है।

उचित आहार, उचित निद्रा, उचित ब्रह्मचर्य व उचित शारीरिक परिश्रम के अभाव में शरीर में कमी आने लगती है। शरीर की न्यूनता या अपूर्णता को दूर करने के लिए इन सभी बिन्दुओं पर ध्यान देना होता है। आयुर्वेदोक्त रीति से यदि आहारादि का यथातथ प्रबन्ध किया जाए, उन सभी नियमों की अनुपालना की जाए जिनसे शरीर में आई हुई न्यूनता का आपूरण होता है तो निश्चित ही शरीर की आयु बढ़ जाती है। जैसे प्रकृत मन्त्र में 'पयसा' का संकेत करते हुए यह रहस्य प्रकट किया कि शारीर स्वास्थ्य के लिए पय (गोदुग्ध) सर्वोत्तम है।

आहार विषय में विशेष रूप से तीन बातों की तरफ ध्यान देना होता है- आहार की मात्रा (Quantity) प्रकार (Quality) और समय (Time)। आयुर्वेद कहता है- 'मात्रावद् अश्नीयात्' सात्त्विक पदार्थ भी यदि अपने शरीर की क्षमता से अधिक ग्रहण किए जाते हैं तो वे तामसिक हो जाते हैं तथा स्वास्थ्यप्रद न होकर हानिप्रद हो जाते हैं। आहार के प्रकार को सामने रखकर धर्मशास्त्र के अनुसार सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेद किए हैं और आयुर्वेद के अनुसार ऋतुचर्या, वात-पित्त-कफ आदि व्यक्ति की

प्रकृति तथा आहार द्रव्यों के गुण-रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव आदि का वर्णन मिलता है। चरक-संहिता के विमानस्थान के प्रथम अध्याय में आहार के प्रकार विशेष हितत्व-अहितत्व को लक्ष्य कर प्रकृति-करण-संयोग-राशि (आहार-परिमाण) देश-काल-उपयोगसंस्था-(आहार के उपयोग करने के नियम कि इस प्रकार आहार का उपयोग करना चाहिए,ऐसी अवस्था में नहीं करना चाहिए) उपयोक्ता- (आहार का उपयोग करने वाला, जिसको कि अभ्यासवश कुछ पथ्य-अपथ्य सात्म्य हो जाता है) इन आठ हेतुओं की चर्चा की है (इनकी व्याख्या अभी हम यहाँ नहीं करेंगे)। विरुद्ध आहार द्रव्यों की लम्बी सूची दी है। रात्रि में दधि भोजन का निषेध किया है ये सब बिन्दु मिलकर पथ्य-अपथ्य का निर्धारण करते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में समय पर भोजन और अजीर्ण अवस्था (बिना भूख) भोजन न करें- इन दो बातों पर भी विशेष बल दिया है। इसी प्रकार ऋतुचर्या में निद्रा को अभिलक्ष्य कर निद्रा के नियम जैसे कि ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर दिन में न सोना इत्यादि की चर्चा मिलती है। प्रात:काल शीघ्र उठकर नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्रतिदिन शारीरिक श्रम (व्यायाम) का नियम तथा ऋतुचर्या के अनुसार ब्रह्मचर्य नियमों की एक विशेष व्यवस्था दी गई है। इन सभी नियमों का पालन करने से शरीर स्वस्थ रहता है और फिर भी इस सबका श्रेय वैदिक ऋषि अपने प्रभु को ही देते हैं।

यहाँ मन्त्रों में हमारे सामने एक लक्ष्य भर रख दिया जाता है, उसकी विधि नहीं बताई है, उसको कैसे सिद्ध किया जाए यह सब विस्तार से किसी को जानना हो तो अन्य-अन्य शास्त्रों से समझना होता है। मन के शिवत्व को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य, श्रीमद्भगवद्गीता, योगशास्त्र का श्रवण-मनन-निदिध्यासन, निष्काम कर्म, कामना या तृष्णा का त्याग, इन्द्रियसंयम, अपने शरण्य में अनन्य भक्तिभाव, सबके प्रति कल्याण का भाव, यथाशक्ति दूसरों का तन-मन-धन से सहयोग, सतत भगवान् की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, चित्तवृत्तियों के निरोध हेतु अभ्यास व वैराग्य, चित्त

की प्रशान्तवाहिता हेतु यत्न, विषयविमुखता, द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति- ये सब साधन विहित हैं।

हमारे मन का एक बहुत ही छिछला भाग है जो वस्तु-व्यक्ति-सम्बन्धों से सुख लेने में ही व्यस्त रहना चाहता है। उसके सामने जो भी घटना या परिस्थिति उत्पन्न होती है चाहे वह सुखमय है या दु:खमय, केवल प्रतिक्रिया करना जानता है। वह जीवन को इतना ही समझ पाया होता है कि अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुझे प्रतिकूल परिस्थितियों का परिवर्तन करना है। उसकी इतनी ही समझ बनी होती है कि सुखमय जीवन का एक ही सूत्र है- 'परिवर्तन'(Change)। वह संसार को देखता है, यद्यपि उसके समक्ष तीन तरह के लोग होते हैं- कुछ उसके समान, कुछ ऊपर, कुछ नीचे किन्तु उसने जीवन के विकास का यही एक सूत्र समझा होता है कि सदा अपने से ऊपर वालों को देखो और अपनी पूरी शक्ति लगाकर वहाँ तक पहुँचने का प्रयास करो; क्योंकि उसने मात्र 'स्पर्द्धा' को ही जीवन के विकास का मूल सिद्धान्त जाना होता है, अत: किसी भी क्षेत्र में अपनी ही रुचि या कर्मप्रवृत्ति की दृष्टि से आगे बढ़े हुए लोगों को अपना आदर्श (Model) मानकर वहाँ तक पहुँचने के लिए अपनी सारी शक्ति लगाता रहता है। वह विकास के प्रवाह में यह नहीं देख पाता कि इस प्रक्रिया में उसे कितना दु:ख-दर्द पीड़ा या कष्ट झेलना पड़ रहा है, आंशिक उपलब्धि से मिलने वाली खुशियाँ उसे सदा अतृप्ति की व्यथा से अनजान रखती हैं। एक छिछले मन को विविध कामनाएँ और उनको पूरा करने के लिए महान् संघर्ष इससे आगे कुछ दिखाई नहीं देता अर्थात् वह संघर्ष के सुख से तो परिचित होता है, किन्तु परमशान्ति, अपार सन्तोष, सहज आनन्द, सहज प्रस्फुटन, परमतृप्ति से अपरिचित ही बना रहता है। छिछला मन कभी भी यह नहीं जान सकता कि नि:स्वार्थ प्रेम, स्वार्थरहित सेवा, अपने द्वारा अपने में तृप्ति, अन्त:प्रकाश, रस का अन्त:स्रोत, आन्तरिक रस से

उद्भूत परम उत्साह इत्यादि कोई अलग चीजें होती है, इनका कोई अलग स्वरूप होता है। परिस्थितियों की अनुकूलता से उत्पन्न रस, किसी अपने संकल्प की पूर्ति और विजय से उत्पन्न हर्षोल्लास, अपने व्यक्तित्व के बाह्य विस्तार से मिलने वाली अद्भुत तृप्ति, अपने मस्तिष्क या हाथों से सृष्ट, जागतिक बाह्य कार्यों के परिणामस्वरूप उपलब्ध एक सुखद सन्तोष तक ही होती है छिछले मन की दौड़।

अपने व्यक्तित्व की सच्ची गहराई में प्रवेश पाने के लिए या विशालता में अपने आपको ऊपर उठाने के लिए व्यक्ति को अपने मन के सम्पूर्ण ढाँचे को समझना होता है। कितने भी ऊँचे से ऊँचे ग्रन्थों के मात्र स्वाध्याय-प्रवचन, अहं के किसी भी संकुचित या संवर्धित रूप अर्थात् संसार में एक महान् त्यागी के रूप में अपने को प्रतिष्ठापित करने के लिए किये गये अहं के विलोपन या अहंतृप्ति हेतु किये गये बड़े से बड़े लोकोपकार के द्वारा व्यक्ति अपनी गहराई में प्रविष्ट नहीं हो सकता। गहरा मन ही मन के पार जा सकता है या विशालता में उन्नीत हो सकता है। गहरा मन व्यक्ति को अहं से मुक्त कर देता है। किसी भी रूप में अहं का बचा रहना यह सूचित करता है कि मन की अपेक्षित गहराई या मन की विशालता प्राप्त नहीं हो पाई। कामना का सम्बन्ध अहं के साथ ही होता है। गहरे मन, समनस्क मन, विज्ञानवान् मन, सुसंस्कृत मन में कोई कामना नहीं होती क्योंकि वहाँ अहं छुट जाता है। इस विषय में काठक श्रुतियों को प्रमाण रूप में उपस्थित किया जा सकता है-

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ।।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।। (१.३.५-९)

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी गहरे मन को ही शुद्ध मन कहा है-

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। (३.४३)

अर्थात् इस प्रकार बुद्धि से अति श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और आत्मा से ही आत्मा को स्तम्भन करके अर्थात् शुद्ध मन से अच्छी प्रकार आत्मा को समाधिस्थ करके हे महाबाहो! इन कामरूप दुर्जय शत्रु का त्याग कर दो।

इस शुद्ध मन के लिए एक अन्य काठक श्रुति में 'अग्रीबुद्धि' या 'सूक्ष्मबुद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है-

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।। (१.३.१२)

सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्मबुद्धि से ही देखा जाता है।

प्रकृत मन्त्र में इस गहरे मन, सुसंस्कृत मन, शुद्ध मन, समनस्क मन, विज्ञानवान् मन, अग्री बुद्धि, सूक्ष्म्बुद्धि इत्यादि का कथन करने के लिए ही 'शिवेन मनसा' इस शब्द का प्रयोग हुआ है। शिव मन से संयुक्त हुआ व्यक्ति उस छिपे हुए आत्मा को जान जाता है जिसके लिए कहा गया है- 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति०' सारे वेद जिस प्राप्तव्य पद की चर्चा करते हैं। शिव मन जीवन की अन्तिम उपलब्धि है।

प्रश्न- किन्तु मन्त्र की पहली पंक्ति में 'शिवेन मनसा' कहने पर भी उत्तरार्द्ध में 'अनुमार्ष्ट तन्वो यद्विलिष्टम्' यह प्रार्थना की है।

उत्तर- मन्त्र में जो वर्णन होता है, वह पौर्वापर्य की दृष्टि से नहीं होता है कि उसके बाद यह फिर उसके बाद यह। चीजें गिना दी गई हैं, जिसकी जहाँ जब योग्यता हो वहीं उसी समय उसे प्राप्त करना होता है। मीमांसा का एक नियम भी है- 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलवान्'। पाठक्रम से अर्थ का क्रम बलवान् होता है, अत: ऐसा समझ सकते हैं- 'मुझे शिव मन प्राप्त करना है' यह संकल्प जिस दिन व्यक्ति में उदित होता है, उसी दिन कार्य का आरम्भ तो हो जाता है किन्तु उसकी पूर्णता तो अपने समय पर ही होती है। पूर्णता का लक्षण है- 'जिसके पाने पर कुछ पाना शेष नहीं रहता। व्यक्ति कह उठता है- 'प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणा: क्षेतव्या क्लेशा:। शिव मन को ही योगशास्त्र में 'विप्लवरहित विवेकख्याति' इस शब्द से कहा है जिसका फल है- आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति व परमानन्द प्राप्ति।

★ ★ ★

वैदिक-सूक्तियाँ

१. इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑।।१.१।।

हे मानव! अन्न, इच्छाशक्ति और विज्ञान (विशेष ज्ञान) की प्राप्ति के लिए तथा ऊर्जा (बल) उत्साह और आनन्दरस को पाने के लिए तुम्हें (सविता देव सर्वभूतहितकारक कर्म करने के लिए प्रेरित करे।)

२. वा॒यव॑[१] स्थ।।१.१।।

हे मनुष्यो! तुम जीवन्त प्राण हो अपने आपको दीन-हीन असहाय कमजोर मत समझो।

३. दे॒वो वः॑ सवि॒ता प्रार्प॑यतु श्रेष्ठ॒तमा॑य॒ कर्म॑णे॒।।१.१।।

सब जगत् का उत्पादक सविता देव तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म के लिए प्रेरित करे।

४. आप्या॑यध्वम्।।१.१।।

हे मनुष्यो! सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होओ। शारीरिक, मानसिक, वैयक्तिक, सामुदायिक तुम्हारा सर्वविध आप्यायन होता रहे।

५. इन्द्रा॑य भा॒गम्।।१.१।।

परमैश्वर्य को प्राप्त करने के लिए अपना भाग इन्द्र के लिए अर्पित करो। (दानं दारिद्र्यनाशनम्)

६. मा व॑[२] स्ते॒नः ई॑श॒त॒।।१.१।।

तुम्हारे पर चौर, लुटेरे, भ्रष्टाचारी शासन न करें। अथवा चौर्यभाव तुम्हें अपने वश में न करे।

७. माघ॑श꣡ꣳसः।।१.१।।

यहाँ पूर्व वाक्य का 'ईशत' पद अन्वित हो रहा है। पाप को अच्छे रूप में

---

१. 'वायवः' यहाँ विसर्ग का लोप हो रहा है। 'वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः' भा०वा०- ८.४.३६

२. यहाँ पर भी लोप हो रहा है। 'वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः' भा०वा०- ८.४.३६

चित्रित करने वाला कोई व्यक्ति तुम्हारे विचारों पर शासन करने वाला न हो।

८. ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात॥१.१॥

इस गोपति के आश्रय में तुम स्थिर होकर रहो। गोपति शब्द का प्रसङ्गानुसार गो= इन्द्रियों का स्वामी प्रभु, गायों का स्वामी गोपालक, गो= पृथिवी का स्वामी राजा, गो=वेदवाणी का रक्षक वेदज्ञ, कोई भी अर्थ ले सकते हैं।

९. यजमानस्य पशून् पाहि॥१.१॥

आत्मारूपी यजमान के इन्द्रियरूपी पशुओं की रक्षा करो। अथवा यज्ञ करने वाले यजमान के 'गो' आदि पशुओं की रक्षा करो। अथवा राष्ट्रयज्ञ के यजमान नरेश के अधिकारी रूप पशुओं को पथभ्रष्ट होने से बचाओ।

१०. वसोः पवित्रमसि॥१.२॥

हे मनुष्य! तू यज्ञ को पवित्र करने वाला है। अर्थात् तू यज्ञ की पवित्रता का साधन है। वासयतीति वसुः, यज्ञ ही बसाने वाला है।

११. द्यौरसि॥१.२॥

हे मनुष्य! तू प्रकाशमय जीवन वाला है या द्युलोक के समान तेरी ऊँचाई है।

१२. पृथिव्यसि॥१.२॥

हे मनुष्य पृथिवी के समान तेरा विस्तार है। (प्रथ विस्तारे)

१३. मातरिश्वनो घर्मोसि॥१.२॥

हे मनुष्य! तू वायु के शोधक तेज के समान है।

१४. विश्वधा असि॥१.२॥

हे मनुष्य! तू इतना महान् है कि सबका धारण करने वाला है।

१५. परमेण धाम्ना दृꣳहस्व॥१.२॥

उत्कृष्ट तेज से तू अपने को दृढ बना, तू सदा वृद्धि को प्राप्त होता रह।

१६. **मा ह्वाः॥१.२॥**

अपने जीवन में तू कभी कुटिल गति वाला मत बन।

१७. **मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्॥१.२॥**

तुम्हारा यज्ञपति (यजमान) भी कुटिल गति वाला न बने।

१८. **विष्णो हव्यꣳरक्ष॥१.४॥**

हे विष्णु! इस हवि को सुरक्षित रख। यहाँ हव्य का अर्थ है आत्मसर्वस्व। हे परमात्मन्! मैं अपना सर्वस्व तेरे लिए अर्पण कर चुका हूँ। यहाँ पर अब मेरा कुछ नहीं है (न मम)

१९. **इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मि॥१.४॥**

तुझ इन्द्र के भाग को सोम से पल्लवित व विस्तृत करता हूँ।

२०. **धूरसि॥१.८॥**

तू जो नाश करने योग्य है उसका नाश करने वाला है।

२१. **देवानामसि वह्नितमम्॥१.८॥**

तू देवों का उत्तम वाहक है। (वह प्रापणे= वह्नि)

२२. **(देवानाम्) सस्नितमम् (असि)॥१.८॥**

तू देवों को शुद्ध करने वाला है। (ष्णा शौचे= सस्नि)

२३. **(देवानाम्) पप्रितमम् (असि)॥१.८॥**

तू देवों की पूर्णता करने वाला है। (प्रा पूरणे= पप्रि)

२४. **(देवानाम्) जुष्टतमम् (असि)॥१.८॥**

तू देवों का सेवनीय है, देवों का अति प्यारा है।

२५. **(देवानाम्) देवहूतमम् (असि)॥१.८॥**

तू देवों को उत्कृष्ट आमन्त्रण देने वाला, बुलाने वाला है।

२६. **अहुतमसि हविर्धानम्॥१.९॥**

तू हविर्भाग का अकुटिल तथा सरल धारणकर्ता पात्र के समान है।

२७. विष्णुस्त्वा क्रमताम्॥१.९॥

सर्वव्यापक परमात्मा तुझ पर अपना अधिकार प्रस्थापित करे। तुझे सञ्चालित करे।

२८. अपहतं रक्षः॥१.९॥

राक्षस मृत्युवश हुए, राक्षसी वृत्तियाँ नष्ट हुई।

२९. उरु वाताय॥१.९॥

वायु के लिए विस्तृत स्थान खुले में घूमता रह।

३०. यच्छन्तां पञ्च॥१.९॥

पाँचों वश में किए जाएँ। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण वश में किए जाएँ।

३१. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्॥१.१०॥

मैं सविता देव की अर्थात् उस सर्व उत्पादक देव की अनुज्ञा में (प्रसवे) तुझको ग्रहण करता हूँ। प्रभु का आदेश है- न अतियोग, न अयोग अपितु समयोग। प्राणापान की (=अश्विनोः) बाहुओं से मैं प्रत्येक पदार्थ को ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने पुरुषार्ष से कमाकर ही मैं किसी वस्तु को लेने की इच्छा करता हूँ। पूषा के हाथों से मैं किसी वस्तु को ग्रहण करता हूँ, अर्थात् किसी भी वस्तु को पोषण के दृष्टिकोण से ही उसे ग्रहण करता हूँ न कि आसक्तिवश।

३२. भूताय त्वा नारातये॥१.११॥

सभी उत्पन्न प्राणियों के सुख के लिए तुझे उत्पन्न किया है अनुदारता के लिए नहीं।

३३. स्वरभिविख्येषं॥१.११॥

मैं स्वर्ग को ही अपने चारों ओर देखूँ।

३४. अग्ने॑ ह॒व्यꣳर॑क्ष॥१.११॥

हे अग्नि देव! मेरे इस जीवनरूप हव्य की रक्षा करो। अर्थात् चाहे जैसे इसको रखो, इसका उपयोग करो।

३५. प॒वित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॥१.१२॥

तुम दोनों (पति-पत्नी, आचार्य-शिष्य, मित्र-मित्र, प्राण-मन) विष्णु की शक्ति से उत्पन्न हुए पवित्रीकरण के दो साधनरूप हो।

३६. अग्नऽ॑इ॒मम॒द्य य॒ज्ञं न॑य॒त॥१.१२॥

हे दिव्य ज्ञानरूप जलो! आप आज इस यज्ञ को हमारे जीवनों में आगे ले चलो अर्थात् हमारे जीवनों में यज्ञीय भावना भर दो।

३७. अग्ने॑ य॒ज्ञप॑तिं सु॒धातुं॑ य॒ज्ञप॑तिं देव॒युव॑म् (नयत)॥१.१२॥

हे दिव्य जलो! यज्ञ के पालक- निरन्तर यज्ञ करने वाले को, उत्तम सप्त धातुओं से युक्त और देवों से सम्बद्ध या देवों के भक्त यजमान को आगे ले चलो (=नयत)।

३८. यु॒ष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्र॒तूर्ये॑ यू॒यमिन्द्र॑मवृणीध्वं वृत्र॒तूर्ये॑ प्रोक्षि॑ता[1] स्थ॥१.१३॥

ये काम आदि शत्रु ज्ञान को आवृत करने के कारण वृत्र हैं। इनके साथ किया जाने वाला संग्राम तूर्य है। इन काम आदि का संहार वृत्रतूर्य है। इस काम-संहाररूप यज्ञ के निमित्त तुम्हें उस प्रभु ने चुना है और तुमने भी इस काम-संहार रूप संग्राम में उस सर्वैश्वर्यशाली प्रभु को चुना है। उस प्रभु का वरण करने पर तुम शुद्ध हो गए हो।

३९. दैव्या॑य॒ कर्म॑णे शुन्धध्वम्॥१.१३॥

दिव्य कर्म के लिए शुद्ध बनो।

४०. देवय॒ज्यायै॒ (शुन्धध्वम्)॥१.१३॥

---

१. 'प्रोक्षिताः' यहा विसर्ग का लोप।

देवों के यजनार्थ शुद्ध बनो।

४१. **यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुः॥१.१३॥**

क्योंकि तुम अशुद्ध थे इसलिए अशुद्धता के कारण पराभूत हुए।

४२. **इदं वस्तच्छुन्धामि॥१.१३॥**

इसलिए मैं तुम्हें शुद्ध करता हूँ।

४३. **शर्मासि॥१.१४॥**

तू सूख स्वरूप है। ध्यान में रख कि तेरा सच्चा स्वरूप सुखमय है।

४४. **अवधूतꣳरक्षः॥१.१४॥**

राक्षस दूर हुए या राक्षसी भाव दूर हो गए।

४५. **अवधूता अरातयः॥१.१४॥**

जो अनुदार थे वे भी दूर हो गए अथवा अनुदार भाव दूर हो गए।

४६. **अदित्यास्त्वगसि॥१.१४॥**

तू स्वाधीनता की त्वचा है, संस्पर्श है। अथवा अखण्डता की त्वक् है।

४७. **प्रति त्वादितिर्वेत्तु॥१.१४॥**

स्वाधीनता तुझे जान लेवे। अखण्डता तुझे जान लेवे।

४८. **अद्रिरसि वानस्पत्यः॥१.१४॥**

वनस्पति से निर्मित है तुम्हारा शरीर और तुम पर्वत के समान सुदृढ हो।

४९. **ग्रावासि पृथुबुध्नः॥१.१४॥**

तू दृढ नींव वाला पत्थर है।

५०. **प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु॥१.१४॥**

अदीनता का आवरण तुझे मिल जावे।

५१. **अग्नेस्तनूरसि॥१.१५॥**

तू अग्नि का शरीर है। अग्नि का विस्तार करने वाला है। (तनु

विस्तारे) जहाँ तू रहेगा वहाँ अँधेरा व शैत्य (सुस्ती, आलस्य) नहीं रह सकता।

५२. वाचो विसर्जनम् (असि)॥१.१५॥

तू वाणी का चारों ओर (=वि) दान करने वाला है। (विसर्ग= दान, त्याग)

५३. कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः॥१.१६॥

तू परद्रव्य के आदान की वृत्ति को अपने से दूर करने वाला है। (परद्रव्येषु लोष्ठवत्) तथा तू माधुर्य से पूर्ण जिह्वा वाला है। (वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः)

५४. वायुर्वो विविनक्तु॥१.१६॥

वायु=शुद्ध वायु तुम्हें विवेकयुक्त करे। प्राण का सही सञ्चार हमें मेधा प्रदान करता है। दूसरी जगह भी कहा है- मेधामिन्द्रश्च वायुश्च (यजु०-३२.१५) अर्थात् इन्द्रशक्ति और वायुशक्ति मुझे मेधा प्रदान करे।

५५. देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना॥१.१६॥

सब प्राणदायी तत्त्वों को जन्म देने वाला (षू प्रेरणे) और सब दिव्यताओं का कोशभूत सूर्य (=सविता) स्वर्ण को हाथ में लिए हुए है (=हिरण्यपाणिः) मानो हमें स्वर्ण के इञ्जैक्शन दे रहा हो। यह सूर्य अपने निर्दोष किरणरूप हाथों से (=अच्छिद्रेण पाणिना) तुम्हें ग्रहण करे (=वः प्रतिगृम्भातु) अर्थात् प्रातःकाल ही उस सूर्य की किरणें तुम्हें प्राप्त हों जो तुम्हें प्राण, शक्ति और दिव्यता देता है और तुम्हारे लिए अत्यन्त हितकर व रमणीय (=हिरण्य) है।

५६. त्वया वयꣳसङ्घातꣳसङ्घातं जेष्म॥१.१६॥

हे ईश्वर! या हे विद्वान्! आपके साथ मिलकर या आपके सहयोग से प्रत्येक संग्राम को जीत सकें।

५७. परा॑पूत॒[१]ꣳरक्षः॒[२] परा॑पूता॒ अरा॑त॒योऽप॑हत॒ꣳरक्षः॑॥१.१६॥

राक्षस दूर हुए। अनुदार हट गए। राक्षस मर गए।

५८. धृष्टि॑र॒सि॥१.१७॥

हे जीव! तू शत्रुओं का धर्षण करने वाला है।

५९. अपा॑ग्ने अ॒ग्निमा॒मादं॑ जहि॒ निष्क्र॒व्याद॑ꣳसेधा॥१.१७॥

(हे अग्ने! आमादम् अग्निम् अप जहि। क्रव्यादं निःषेध)

हे अग्ने! कच्चा मांस सेवन करने वाली अग्नि को दूर हटा और मांसाहारी का निषेध कर अर्थात् आमिषभोजी लोगों को दूर कर।

६०. दे॒व॒यजं॑ वह॥१.१७॥

देवपूजक को समीप रख।

६१. ध्रु॒वम् असि पृथि॒वीं दृ॑ꣳह॥१.१७॥

तू अपने नियमों पर स्थिर है। इस व्यवस्थित जीवन से तू= अपने स्थूल शरीर को दृढ बना।

६२. ब्रह्म॒वनि॒ त्वा क्षत्र॒वनिं॒ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑॥१.१७॥

ज्ञान का सेवन करने वाले तुझ ब्राह्मण को, बल का सेवन करने वाले तुझ क्षत्रिय को और प्राणिमात्र के सुख देने वाले तुझे मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ। जिससे शत्रुओं के वध के लिए तू समर्थ हो सके।

६३. अग्ने॒ ब्रह्म॑ गृभ्णीष्व॥१.१८॥

हे तेजस्वी पुरुष! ज्ञान का ग्रहण कर। अथवा हे परमेश्वर! ज्ञान का ग्रहण करा।

६४. ध्रु॒रु॒णम॑स्यु॒न्तरि॑क्षं दृꣳह॥१.१८॥

---

१. पूतम्= Washed away

२. रक्षो रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षत इति वा (नि०- ४.१८)

तू धारक है। अन्त:करण के रूप में तुझ में अन्तरिक्ष छिपा है जिसको सुदृढ तथा बलशाली बना।

६५. धर्त्रमसि दिवं दꣳह॥१.१८॥

तू धारक है। मानवीय शरीर में मस्तिष्क रूपी द्युलोक को दृढ कर।

६६. विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यऽउपदधामि॥१.१८॥

जीव ने जब अपने शरीर, हृदय (मन) व मस्तिष्क (बुद्धि) को दृढ कर लिया तो उस जीव के लिए प्रभु का आश्वासन है- सब दिशाओं से मैं तुझे अपने समीप स्थापित करता हूँ।

६७. चित[१] स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्॥१.१८॥

हे जीव! तुम चेतन हो, चेतन ही नहीं उत्कृष्ट चेतना वाले हो, अत: अपने हित को समझते हुए 'ज्ञान-परिपक्व' (उत्कृष्ट ज्ञान वाले) लोगों के तथा जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस भरा है, लचक है, उनके तप से तप करने वाले बनो।

भृगुओं का तप 'स्वाध्याय' तथा अङ्गिरा लोगों का तप 'ऋत' है। तुम अपने जीवन को नैत्यिक स्वाध्याय वाला बनाओ तथा तुम्हारा प्रत्येक कार्य ठीक समय व स्थान पर हो, जिससे तुम भृगुओं की भाँति ज्ञानी तथा अङ्गिरसों की भाँति स्वास्थ्य की दीप्ति वाले बनो। ज्ञान की दृष्टि से 'ऋषि' और बल की दृष्टि से एक मल्ल बनो। यही तो आदर्श पुरुष का चित्र है। ऋषि+मल्ल (Sage+ athlete)।

६८. शर्मास्यवधूतꣳरक्षोऽवधूताऽअरातय:॥१.१९॥

तू आनन्द से लबालब भरा है क्योंकि तुमने राक्षसी भावनाओं को कम्पित करके अपने से दूर कर दिया है। (धूञ् कम्पने)। अदानभावों को दूर

१. 'चित्' यह शब्द वही है जो 'सच्चिदानन्द' इस शब्द में सुनाई पड़ रहा है। चित् का बहुवचनान्त 'चित:' है। यहाँ विसर्ग का एक सन्धि नियम से लोप हो रहा है।

भगा दिया है।

६९. ६९. अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु॥१.१९॥

तू अदिति=अदीनता का संस्पर्श (त्वक्) है। अदीनता तुझे जाने। तू अदिति के सम्पर्क में हो, अदिति तुम्हारे सम्पर्क में हो अर्थात् तुम्हारा सारा वातावरण ही अदीनता व दिव्यगुणों वाला हो।

७०. धिषणासि पर्वती प्रति[1] त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु॥१.१९॥

जीव के आरोहण में बुद्धि ही उसकी सहायिका है। काठक श्रुति में आत्मा को रथी बुद्धि को सारथि कहा। आत्मा राजा है तो बुद्धि मन्त्रिणी है। आत्मा महादेव है तो बुद्धि पार्वती है। मन्त्र में कहा- तू धिषणा है, धारण करने वाली 'बुद्धि' है। तू पर्वती है पूरण करने वाली है (पर्व पूरणे) सब न्यूनताओं को दूर करने वाली है। तुझे अदिति=अदीनता का सम्पर्क सदा प्राप्त रहे।

७१. दिव स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु॥१.१९॥

तू दिव:=प्रकाश की स्कम्भनी है, धारण करने वाली है वैसे ही जैसे कि भवन की छत को स्कम्भ (स्तम्भ) सहारा देता है, उसी प्रकार जीवन में यह बुद्धि प्रकाश का स्कम्भ है। सम्पूर्ण प्रकाश का साधन यह बुद्धि ही है। बुद्धि पार्वतेयी[2] है, पर्वती है पूर्ण करने वाली है। यह पूर्ण करने की प्रक्रिया तुझे पूर्ण रूप से जाने (=पर्वती त्वा प्रतिवेत्तु) इस बुद्धि में हमारे जीवन को न्यूनताओं से ऊपर उठाकर पूर्ण बनाने की शक्ति सदा बनी रहे। विपरीत मार्ग में जाकर हमारे विनाश का कारण न बने।

७२. धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा॥१.२०॥

---

१. 'प्रति' यह उपसर्ग है जो कि वेत्तु क्रिया के साथ सम्बद्ध होकर अर्थ का प्रकाश करेगा।

२. पर्वती शब्द से स्वार्थ में ढक् होकर पार्वतेयी शब्द बना है अर्थात् जो पर्वती का अर्थ है वही पार्वतेयी का।

तू धान्य है, पोषण में उत्तम है (धाने पोषणे साध्विति धान्यम्) तू मानव शरीर का उत्तम पोषक है। तू स्वस्थ शरीर, निर्मल मन, उत्तमबुद्धि को जन्म देता है। तू हमारे जीवन में शरीरान्तर्गत देवों अर्थात् इन्द्रियों को प्रीणित कर (=देवान् धिनुहि)। तेरे द्वारा (धान्य के द्वारा) सत्त्व की शुद्धि से हममें सात्त्विक गुणों का विकास हो। हम तुझे (धान्य को) प्राण के विकास के लिए स्वीकार करते हैं। उदान वायु के जो कि कण्ठदेश में रहता है ठीक कार्य करने के लिए स्वीकार करते हैं। हम तुझे सर्व शरीरवर्ती व्यान के ठीक से कार्य करने के लिए स्वीकार करते हैं। धान्य प्रयोग से सारा नाड़ी संस्थान व मस्तिष्क तन्त्र ठीक से काम करता है।

७३. दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धाम्॥१.२०॥

आयुष्य के लिए विस्तृत शक्ति को मैं अनुकूलतापूर्वक धारण करता हूँ। अर्थात् अत्यन्त विस्तृत कर्मतन्तु सन्तति का लक्ष्य करके और इस प्रकार उत्तम कर्ममय जीवन के लिए (इ गतौ) हे धान्य! मैं तेरा ग्रहण करता है।

७४. महीनां पयोऽसि॥१.२०॥

तू महान् शक्तियों का सारभूत तत्त्व है, तू सबका निचोड़ है।

७५. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां सं वपामि॥१.२१॥

सबका निर्माण करने वाले देव की प्रसूति रूप इस सृष्टि में अश्विनों के अर्थात् प्राण-अपान के बाहुओं से तथा पूषा के हाथों से तुझे फैलाता हूँ। रोग के प्रतिरोधक व निवारक बलों को 'अश्विनौ' यह नाम दिया है और पूषा के हाथ पोषक शक्ति की सूचना देते हैं। परमात्मा रोग प्रतिबन्धक रोगनिवारक एवं पोषक बलों के द्वारा मानव को महान् कर उसके सामर्थ्य को फैलाता है।

७६. सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्॥१.२१॥

शक्तिरूप धन से पूर्ण ओषधियाँ [=रेवती: (=रयिवती:)] गतिशील प्राणियों के साथ (=जगतीभि:) संयुक्त हों अर्थात् इन ओषधियों का सेवन

व्यक्ति को पुरुषार्थी बनाए। मधुर रस से परिपूर्ण ये ओषधियाँ (=मधुमती:) परस्पर मधुर व्यवहार वाली प्रजाओं से (=मधुमतीभि:) संयुक्त हों (=पृच्यन्ताम्) अर्थात् उन्हें मधुर बनाएँ। सार यह है कि ओषधियों के सेवन से जीवन क्रियाशील हो तथा जीवन में माधुर्य बढ़े, जीवन रसमय हो जाए।

७७. जनयत्यै त्वा सँयौमि॥१.२२॥

पत्नी का पति के प्रति कथन- उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए मैं आपके साथ मेल करती हूँ।

७८. उरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्॥१.२२॥

तू खूब विस्तार वाला है (=उरुप्रथा:) (प्रथविस्तारे) खूब विस्तार को प्राप्त हो (=उरु प्रथस्व) अन्य शक्तियों के साथ हृदय भी तेरा विशाल हो। सब यज्ञों का रक्षक प्रभु तेरी सब शक्तियों को खूब विस्तृत करे (=उरु प्रथताम्)

७९. देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके॥१.२२॥

सबका प्रेरक देव तुझे परिपक्व बनाए (=श्रपयतु)। तेरी शारीरिक, मानस व बौद्धिक शक्तियों का ठीक विकास हो। इनके ठीक परिपाक द्वारा वे प्रभु तुझे सर्वोत्तम स्वर्ग में स्थापित करें (=वषिष्ठे अधिनाके)

८०. मा भेर्मा संविक्थाः॥१.२३॥

तू डर मत। वस्तुत: जो एक (प्रभु) से डरता है, वह फिर किसी से नहीं डरता और जो एक से नहीं डरता वह सबसे डरता रहता है। तू उद्वेग से कम्पित मत हो (ओविजी भयचलनयो:) ठीक मार्ग पर चलने वाले को किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता।

८१. अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्॥१.२३॥

तेरा यज्ञ कभी श्रान्त होने वाला न हो अर्थात् तेरी यज्ञीय भावना सदा क्रियामय बनी रहे। सृष्टि यज्ञ को चलाने वाले प्रभु की प्रजा उत्तम कर्मों को करने में थक न जाए। जो व्यक्ति प्रभु के बने रहते हैं वे थकते नहीं। प्रकृति के उपासक थक जाते हैं।

८२. त्रि॒ताय॑ त्वा द्वि॒ताय॑ त्वैकत॒ाय॑ त्वा॥१.२३॥

मैं तुझे तीन (ज्ञान, कर्म व भक्ति) के विस्तार के लिए प्रेरित करता हूँ। ज्ञानपूर्वक कर्म भक्ति ही हो जाते हैं अत: द्विताय त्वा= ज्ञान व कर्म के लिए अथवा अन्तत: एकताय त्वा=ज्ञान के विस्तार के लिए प्रेरित करता हूँ।

८३. आद॑देऽध्व॒रकृ॑तं दे॒वेभ्य॒: (त्वा)॥१.२४॥

देवताओं के लिए यज्ञ में अर्पित की गई वस्तु के यज्ञशेष को ही ग्रहण करता हूँ। अथवा देवों के लिए हिंसारहित कर्म करने वाले तुझको मैं स्वीकार करता हूँ।

८४. इन्द्र॑स्य बा॒हुर॑सि॒ दक्षि॑ण:॥१.२४॥

तू इन्द्र का दाँयाँ हाथ है। जो वेदानुकूल होशपूर्ण जीवन जीता है तो ऐसे समझें कि परमात्मा का दाहिना हाथ ही बन जाता है।

८५. स॒हस्र॑भृष्टि: श॒ततेजा॑ वा॒युर॑सि॒ ति॒ग्मतेजा॒ द्विष॑तो व॒ध:॥१.२४॥

तू हजारों शत्रुओं का विनाश करने वाला, सैकड़ों तेजों तथा तीक्ष्ण ज्योति से युक्त है। शत्रु नाश का अर्थ है अपने उत्तम आचरण व उत्तम व्यवहार से उनकी शत्रुता का ही नाश कर देता है। तू साक्षात् प्राण है (=वायुरसि)। तू द्वेष करने वालों का वध करने वाला है। अर्थात् द्वेष्टाओं के द्वेष का नाश करके तू 'अजातशत्रु' इस उपाधि को धारण करने वाला है। पहले अपने द्वेष का नाश और अपने प्रति सभी के द्वेष का नाश यही तो अन्तिम चढ़ाई है।

८६. पृथि॑वि देवयज॒न्योष॑ध्यास्ते॒ मूल॑ं मा हि॑ꣳसिषं॥१.२५॥

हे देवाताओं के यज्ञ करने की आधारभूत पृथिवी! मैं तेरी इन ओषधियों के मूल को हिंसित न करूँ। अर्थात् ओषधियों के पत्र, पुष्प फल ही ग्रहण करूँ। हाँ! जैसे मृत पशु के चमड़े आदि का प्रयोग निषिद्ध नहीं, ऐसे ही मृत वनस्पति के भी जड़ त्वग् आदि का प्रयोग किया जा सकता है।

८७. अप॒ारꣳ॑ पृथि॒व्यै दे॑व॒यज॑नाद्ध्यासं॥१.२६॥

न देने वाले को (=अररुं) कृपण मनोवृत्ति वाले को इस पृथिवी पर होने वाले देवों द्वारा किए जाने वाले यज्ञकर्मों से सब भद्र पुरुषों के सामाजिक उत्सवों से दूर करता हूँ (=अपवध्यासम्-हन्-गति)

८८. सु॒क्षमा चासि॥१.२७॥

हे शाले! हे मेरे गृह! तू उत्तम निवास के योग्य है। (क्षि निवासे) गृह उत्तम निवास योग्य तभी होता है जब उसमें किसी प्रकार का अभाव न हो, ज्ञान, समझ व संयम पूर्ण हो तथा परस्पर सद्भाव प्रेम, सम्मान व विश्वास हो। Prosperity, right understanding, right feelings.

८९. शि॒वा चासि॥१.२७॥

हे शाले! तू कल्याण स्वरूप है।

९०. स्यो॒ना चासि॥१.२७॥

हे गृह! हे शाले! तू सुख देने वाली है।

९१. सु॒षदा॑ चा॒सि॥१.२७॥

हे शाले! तू सब लोगों के लिए उत्तमता से बैठने योग्य (सु+षद्= बैठना) है।

९२. ऊर्ज॑स्वती॒ चासि॒॥१.२७॥

हे शाले! तू बल व प्राणशक्ति से सम्पन्न हो। (ऊर्ज बलप्राणनयो:)

९३. पयस्वती॒ च॥१.२७॥

तू सब प्रकार से आप्यायन व वर्धन करने वाली है (ओप्यायी वृद्धौ)

९४. द्विष॒तो व॒धोऽसि॥१.२८॥

तू द्वेष करने वालों का वधकर्ता है।

९५. अनि॑शितोऽसि सपत्न॒क्षिद्॥१.२९॥

तीक्ष्ण न होने पर भी तू शत्रु का नाश करने वाला है। किसी तेजस्वी

पुरुष के लिए यह सन्देश है। स्वभाव तीक्ष्ण न हो तो भी शत्रु पर विजय अवश्य प्राप्त करनी है।

९६. अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्।।१.२९।।

तू तीक्ष्ण न होने पर भी शत्रु का नाश करने वाली है। किसी देवी के लिए यह संदेश है। स्वभाव में तीक्ष्णता अच्छी चीज नहीं, किन्तु शत्रु को तो फिर भी जीतना ही है।

९७. अदित्यै रास्नासि।।१.३०।।

स्वतन्त्रता की तू मेखला के समान है।

९८. विष्णोर्वेष्पोऽसि।।१.३०।।

तू व्यापक परमात्मा का घर है। शरीर, मन, बुद्धि,इन्द्रिय सभी देवता के नित्य निवासस्थान बनें।

९९. अग्नेर्जिह्वाऽसि।।१.३०।।

तू अग्नि की जिह्वा है। तेरी जिह्वा तेजस्विनी, ज्ञान का प्रकाश देने वाली है।

१००. तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि।।१.३१।।

हे ब्रह्मन्! जिस कारण आप स्वयं प्रकाशवान्, शुद्ध, नाशरहित, सब पदार्थों का आधार, वन्दना करने योग्य, विद्वानों के प्रीतिकारक तथा किसी की भयता में न आने के योग्य व विद्वानों के पूजा करने योग्य हैं, इससे मैं आपका ही आश्रय करता हूँ।

मन्त्र का यज्ञ परक दूसरा अर्थ- यह यज्ञ प्रकाश और शुद्धि का हेतु, मोक्षसुख का देने तथा सब अन्न आदि पदार्थों की पुष्टि करने, जल का हेतु, श्रेष्ठ गुणों की प्रीति कराने तथा किसी को खण्डन करने योग्य नहीं है अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट और विद्वज्जनों को परमेश्वर का पूजन कराने वाला है।

१०१. कृष्णोऽस्याखरेष्टः॥२.१॥

सुख देने वाले कर्म में सब प्रकार से स्थित रहने वाला) (=आखरेष्ठः= आ-ख-रे-स्थः) तू सबको अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है। (=कृष्णोऽसि

मन्त्र में यहाँ 'ख'[१] शब्द सुख का वाचक है, 'र'= देने वाला (रा दाने) 'आ'= सब ओर से, स्थ= स्थित होने वाला।

१०२. वेदिरसि॥२.१॥

हे कर्मकर्ता! तू ज्ञानी है और यज्ञ का स्थान भी तू ही है। यज्ञ पवित्रतम कर्म का नाम है। तेरे अन्दर ही सच्ची वेदि है। मानव में दानभाव जन्म से ही है। संस्कार से इसे यज्ञ में परिणत कर देना चाहिए।

१०३. बर्हिरसि॥२.१॥

तू 'बर्हिस्' है। 'बर्हिस्' शब्द के अर्थ हैं- 'यज्ञ, समर्पण, अग्नि, प्रकाश, तेज, जल, जीवन, आकाश, कुश नाम की घास'। यज्ञ के लिए जो प्रेम रखता है, यज्ञ के लिए जो आत्मसमर्पण करता है उसका जीवन पवित्र होता है।

१०४. अदित्यै व्युन्दनमसि॥२.२॥

अखण्डला के लिए तू जल-सिंचन रूप है। जलके द्वारा खण्ड रूप वस्तु अखण्ड हो जाती है। जैसे जल के द्वारा आटा या मिट्टी पिण्डरूप बन जाती है।

१०५. विष्णो[२] स्तुपोऽसि॥२.२॥

तू विष्णु की रचना विशेष है अथवा यजमान का शिखर है।

१०६. यजमानस्य परिधिरसि॥२.२॥

तू यजमान का संरक्षक है अथवा सृष्टियज्ञ के प्रवर्तक प्रभु की तू परिधि है। तेरी सब क्रियाओं के केन्द्र में वह प्रभु है।

---

१. 'ख' शब्द के दूसरे अर्थ ये हैं- सूर्य, आकाश, इन्द्रिय, सुख, कर्म, ज्ञान, ज्ञानी, नगर, क्षेत्र, शून्य (अनन्त का चिह्न) प्रकृत में इसका अर्थ स्वर्ग या सुख है।

२. विसर्ग का लोप हो रहा है।

१०७. स॒मिद॑सि॥२.५॥

तू वह समिधा है जो यज्ञ में होमी जाती है अर्थात् तू किसी लक्ष्य के लिए समर्पित समिधा है।

१०८. स॒वितुर्बा॒हू स्थ॒:॥२.५॥

आप दोनों इस ब्रह्माण्ड उत्पादक प्रभु के बाहु हो। हम केवल निमित्त है। वह प्रभु ही करने वाला हैं।

१०९. धृ॒ताच्य॑सि जु॒हूर्नाम्ना॒॥२.६॥

तू घृत की आहुति देने वाली जुहू है। (ब्रह्मार्पणम्०गीता, अर्पण= जुहू)

११०. घृ॒ताच्य॑स्युप॒भृन्नाम्ना॒॥२.६॥

तू उपभृत् (सबको पालित-पोषित करने वाली) इस नामवाली घृताची हैं।

१११. घृ॒ताच्य॑सि ध्रु॒वा नाम्ना॒॥२.६॥

तू ध्रुवा (स्थिर रहने वाली) इस नाम वाली घृताची है।

विशेष- १. घृतमच्यते यया सा घृताची। २. हूयतेऽनया सा जूहुः। घृताची का अर्थ है घी देने वाली, जिससे घी की प्राप्ति होती है। सबसे प्रथम यह गौ है। गौ के दूध से दही बनता है और उसके मक्खन से घी बनता है। दूसरी घी की आहुति देने वाली कड़छी है। इसी कड़छी को इस मन्त्र में 'जुहू' कहा है। जिससे हवन की आहुतियाँ डाली जाती हैं, इसलिए कड़छी का नाम घृताची है। यहाँ घी देने वाले दो पदार्थ हुए- गौ और कड़छी। इनके उपभृत् और ध्रुवा ये दो नाम प्रसिद्ध हैं। उपभृत् का अर्थ है समीप (=उप) रहकर भरण पोषण करना। गौ भी मनुष्य के समीप रहती है और उसका पोषण करती है इसलिए गौ उपभृत् कहलाती है। घृत की आहुति देने वाली और घृत को परोसने वाली कड़छी भी उपभृत् कहलाती है। इसका कारण यह है कि यह भी अग्नि के समीप रहकर घृत की आहुतियों से अग्नि का पोषण करती है। 'ध्रुवा' पद का अर्थ स्थिर है। गौ भी दोहन के समय नहीं हिलती और कड़छी

भी स्थिरता के साथ आहुति देती है इसलिए दोनों को ध्रुवा कहते हैं।

११२. चक्षुष्पाऽअग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि॥२.१६॥

हे अग्ने! तू आँखों की रक्षा करने वाला है, अत: आखों का पालन कर। एक बाह्य दृष्टि है दूसरी अन्तर्दृष्टि, दोनों ही चक्षु हैं। परमेश्वर दोनों का ही रक्षक है।

११३. देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित॥२.२१॥

हे मार्गदर्शक देवो! सत्यमार्ग को जानकर सत्यमार्ग पर ही जाओ, चलो।

११४. विष्णो स्थानमसि॥२.८॥

(हे अग्ने) तू यज्ञ का स्थान है। जहाँ तू रहता है वहाँ अवश्य यज्ञ रहता है।

११५. सं ज्योतिषा ज्योति:॥२.९॥

हे इन्द्र! तू ज्योति के द्वारा ज्योति को प्राप्त करने वाला बन। सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर तू अपने ज्ञान को बढ़ा और ज्ञानवृद्ध होकर इस ज्ञान के सन्देश को दूसरों तक पहुँचाने वाला बन।

११६. सꣳस्रवभागा स्थ॥२.१८॥

तुम सब उत्तम गति वाले तथा उत्तम सेवन-पूजन वाले हो। (स्रु गतौ भज सेवायाम्)

११७. घृताची स्थ: धुर्या पातम्॥२.१९॥

तुम दोनों मलों के क्षरण से क्रिया के सञ्चालक हो (घृ क्षरणदीप्त्यो:, अञ्चु पूजन)। तुम दोनों ही धुरा में (गृहस्थ शकट में) जो नियुक्त हैं उनका पालन करो।

११८. सुम्ने स्थ:॥२.१९॥

तुम दोनों सदा स्तुति तथा आनन्द में स्थित हो।

११९. सुम्ने मा धत्तम्॥२.१९॥

तूम दोनों मुझे भी सुख में रखो।

१२०. सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा॥२.२०॥

यश की बहिन सरस्वती देवी के लिए अर्पित है।

१२१. अगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम॥२.२५॥

हमने स्वर्ग को प्राप्त कर लिया, हम सदा ज्ञान ज्योति के साथ होने वाले हो गए, हमारा जीवन प्रकाशमय हो गया, हम शुक्लमार्ग पर चल पड़े।

१२२. स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिः॥२.२६॥

आप स्वयंभू है, पराश्रय से रहित है, आप पूर्णतः आत्मनिर्भर है, आपको कोई भी आवश्यकता नहीं तभी तो आप श्रेष्ठ हो, आप ज्ञान की किरण हो, सब कुछ आपके नियन्त्रण में है, मैं भी आपके आश्रय से आप जैसा ही हो जाऊँ।

१२३. वर्चोदा असि वर्चो मे देहि॥२.२६॥

हे प्रभो! आप अपने उपासकों को वर्चस् देने वाले हैं, मुझे भी शक्ति दीजिए।

१२४. सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥२.२६॥

इस वर्चस् की प्राप्ति के लिए मैं सूर्य के आवर्तन के अनुरूप अपने दैनिक कार्यक्रम का आवर्तन करता रहूँ।

१२५. इदमहं य एवास्मि सोस्मि॥२.२८॥

यह मैं स्त्री या पुरुष जो भी हूँ, जो कुछ मैं वास्तव में हूँ, मैं वही हूँ, अर्थात् अब मैं भूल से भी इस पाञ्चभौतिक शरीर में 'मैं' बुद्धि नहीं करता। इससे मैं ऊपर उठ गया हूँ। अब मैं आत्मा को पहचानने लगा हूँ।

१२६. समिधाग्निं दुवस्यत॥३.१॥

समिधा से अग्नि की परिचर्या करो। समिधा समर्पण का प्रतीक है। समर्पण से अग्रणी प्रभु की सेवा करो, उसकी उपासना करो।

१२७. घृतैर्बोधयतातिथिम्॥३.१॥

घृत की धाराओं से उस अतिथि को चेतन करो, जगाओ। घृत स्नेह युक्त विचार,भावपूर्ण विचार का प्रतीक है।आत्मा के रूप में जो अतिथि बनकर हमारे शरीरों में बैठा है, उस अतिथि रूप आत्मा को अपने हृदय का सचेतन प्रेम प्रदान करो।

१२८. अस्मिन् हव्या जुहोतन॥३.१॥

(अस्मिन् हव्या-हव्यानि आजुहोतन) इस उद्बुद्ध अग्नि में अपनी सब हवियों को, अपने उत्तम कर्मों को आहुत कर दो।

१२९. सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे॥३.२॥

(सुसमिद्धाय शोचिषे जातवेदसे अग्नये तीव्रं घृतं जुहोतन) अच्छे प्रकार समिद्ध हुए दीप्तिमान् प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान आगे ले जाने वाले प्रभु के लिए तीव्र घृत की आहुति दो। तीव्र घृत अत्यन्त सचेतन प्रेम को इङ्गित कर रहा है।

१३०. नमो देवेभ्यः॥२.७॥

देवों के लिए प्रणाम हो।

१३१. स्वधा पितृभ्यः॥२.७॥

पितरों के लिए अन्न देते हैं।

१३२. सुयमे मे भूयास्तम्॥२.७॥

देव और पितर दोनों मेरे सहायक हों।

१३३. अंघ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्॥२.८॥

हे यज्ञ पुरुष! पाँव से मैं तेरे ऊपर आक्रमण न करुँ।

१३४. वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषम्॥२.८॥

हे अग्ने! तेरे धन देने वाले आश्रय में मैं रहूँ।

१३५. विष्णोः स्थानमसि॥२.८॥

तू यज्ञ का स्थान है।

१३६. इत इन्द्रो वीर्यमकृणोद्॥२.८॥

इस यज्ञ स्थान से इन्द्र ने पराक्रम किया।

१३७. ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्॥२.८॥

इससे हिंसा रहित कर्म बहुत ही श्रेष्ठ हुआ।

१३८. अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यम्॥२.९॥

(हे अग्ने! होत्रं वेः, दूत्यं वेँः) हे अग्ने! इस हवनतत्त्व को जान। दूतकर्म के तत्त्व को जान।

१३९. अवतां त्वां द्यावापृथिवीऽअव त्वं द्यावापृथिवी॥२.९॥

द्यु और भूमि तुझ अग्नि का पालन करे। तू द्युलोक और पृथिवी लोक की रक्षा कर।

१४०. स्विष्टकृद्देवेभ्यऽइन्द्रऽआज्येन हविषा भूत्स्वाहा॥२.९॥

इन्द्र हविरूप घृत से देवों के लिए उत्तम यज्ञ करने वाला हो,यही हमारा अर्पण है।

१४१. सं ज्योतिषा ज्योतिः॥२.९॥

तेज से तेज मिलकर बढ़े। अन्यत्र भी कहा है-अग्निनाऽग्निः समिध्यते।(ऋग्०) अग्नि से अग्नि प्रज्वलित होती है।

१४२. मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधातु॥२.१०॥

इन्द्र प्रभु मुझ में इन्द्रिय शक्ति को धारण करें।

१४३. अस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्॥२.१०॥

सब प्रकार के पूजित धन हम सबको प्राप्त हों।

१४४. अस्माकं सन्त्वाशिषः॥२.१०॥

हमारे सब अभीष्ट सिद्ध हों।

१४५. सत्या नः सन्त्वाशिषः॥२.१०॥

हमारे अभीष्ट सत्य हों।

१४६. एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे॥२.१२॥

सब विश्व के उत्पन्न कर्ता देव! यह यज्ञ तेरे लिए अर्थात् ज्ञानपति ब्रह्मा के लिए किया जाता है, ऐसा कहते हैं।

१४७. तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव॥२.१२॥

चूँकि यह यज्ञ बृहस्पति ब्रह्मा के लिए है इसलिए इस यज्ञ की रक्षा करो, यज्ञपति की रक्षा करो और मेरी रक्षा करो।

१४८. मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य॥२.१३॥

तेरा वेगवान् मन आज्य का सेवन करे। अध्यात्म में आज्य सद्भाव या प्रेम का प्रतीक है।

१४९. बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोतु॥२.१३॥

विशाल हृदय का स्वामी इस यज्ञ को फैलाए।

१५०. अरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु॥२.१३॥

इस यज्ञ को हिंसारहित करके सम्यक् धारण करे।

१५१. विश्वे देवासऽइह मादयन्ताम्॥२.१३॥

सब देवगण यहाँ आनन्दित हों।

१५२. ओ३म् प्रतिष्ठ॥२.१३॥

हे सर्वरक्षक प्रभो। आप अब इस व्यक्ति के हृदय मन्दिर में प्रतिष्ठित हो जाइए।

१५३. तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि॥३.३॥

हे मेरे अङ्गों के रसरूप अग्ने! घृत अर्थात् भावपूर्ण सचेतन विचार तथा समिधाओं अर्थात् समर्पण के द्वारा हम तुझे बढ़ाते हैं।

१५४. बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥३.३॥

हे युवतम अग्ने! हमारे श्रद्धा-भक्ति-प्रेन पूर्ण भाव, कर्म व विचार को

प्राप्त कर खूब प्रज्वलित होओ। भगवान् को पाने की यह आग निरन्तर बढ़ती चली जाए।

१५५. उप॑ त्वाग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताची॑र्यन्तु॥३.४॥

हे अग्निदेव! घृत से भीगी हुई समिधाएँ व हविष्यान्न आपको प्राप्त हो। भक्त अपने अन्तर्वासी प्रभु को अपने कर्म, अपने विचार, अपने भाव, सब कुछ श्रद्धा के साथ अर्पण कर रहा है।

१५६. हर्यत! जु॒षस्व॑ स॒मिधो॒ मम॑॥३.४॥

हे कान्तियुक्त अग्ने! मेरी समिधाओं का सेवन करो। हे मेरे अन्तर्यामी प्रेरक प्रभो! मेरे श्रद्धा-भक्ति-प्रेम से ओत-प्रोत भाव व विचारों को स्वीकार करो।

१५७. भूर्भु॒वः॒ स्वः॥३.५॥

तू सत्ता, ज्ञान और आनन्दरूप है। अथवा तू ही तीनों लोक(पृथिवी-अन्तरिक्ष व द्युलोक) है।

१५८. द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा॥३.५॥

जिस प्रकार द्युलोक बहुतायत से युक्त है (=भूम्ना) पृथिवी विस्तार से युक्त है (=वरिम्णा) मैं भी उन जैसा ही हो जाऊँ।

१५९. तस्या॑स्ते पृथिवि देवयजनि पृ॒ष्ठेऽग्निम॑न्ना॒दम॒न्नाद्या॒-यादधे॥३.५॥

देवता जहाँ मिलकर उत्तम कर्म करते हैं ऐसी हे पृथिवी! तुम्हारी पीठ पर आद्य (भक्षण योग्य) अन्न की प्राप्ति के लिये यव इत्यादि सब अन्नों का भक्षण करने वाली अग्नि का स्थापन करता हूँ।

१६०. अ॒ग्निर्ज्योति॒र्ज्योति॑र॒ग्निः स्वाहा॒॥३.९॥

अग्नि ज्योति है और ज्योति अग्नि है, मैं उनमें अर्पण करता हूँ।

इस नवें मन्त्र में सर्वत्र पूर्वोच्चारित उद्देश्य है और बाद में उच्चारित विधेय है। इस प्रकार उद्देश्य-विधेय के दश जोड़े हैं। उद्देश्य=subject विधेय=predicate

१६१. सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।।३.९।।

सूर्य ज्योति है और ज्योति सूर्य है मैं उसमें अर्पण करता हूँ।

१६२. अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।।३.९।।

अग्नि तेज (=वर्चः) है और ज्योति भी वर्च=अग्नि है, तेज है। मैं उसमें अर्पण करता हूँ।

१६३. सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।।३.९।।

सूर्य तेज (=वर्चः) है और तेज ही वर्च=सूर्य है मैं उसमें अर्पण करता हूँ।

१६४. ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा।।३.९।।

ज्योति=तेज सूर्य है और सूर्य ज्योति=तेज है, मैं उसे अर्पण करता हूँ।

१६५. सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा।।३.१०।।

सविता देव के साथ (=सजूः) इन्द्रयुक्त रात्री के साथ रहने वाला (=जुषाणः) अग्नि इस आहुति को प्राप्त हो या इस आहुति को जाने।

१६६. सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा।।३.१०।।

सविता देव के साथ इन्द्र युक्त उषा के साथ रहने वाला (=जुषाणः) सूर्य इस आहुति को स्वीकार करे।

१६७. उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरेऽअस्मे च शृण्वते।।३.११।।

हिंसारहित यज्ञ के समीप जाते हुये हम दूर से भी हमारा कथन सुनने वाले अग्नि के लिये मन्त्र बोलते हैं। कोई भगवान् को पुकारे तो सही, वे तो सुनने के लिये तैयार बैठे हैं।

१६८. अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्॥३.१२॥

यह अग्नि मूर्द्धा है। अर्थात् सब का स्वामी ईश्वर सब के ऊपर विराजमान है। सबसे महान् है (=ककुत्) द्युलोक और पृथ्वी का स्वामी है।

१६९. अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति॥३.१२॥

वह सर्वाधिपति प्राणों के (=अपाम्) बलों की रचना करना जानता है। अथवा जलों के जो रेतस् हैं उनका निर्माण करता है।

१७०. उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्या॥२.१३॥

हे इन्द्र=बल व अग्नि=प्रकाश=ज्ञान मैं तुम दोनों ज्ञान व बल को बुलाता हूँ।

१७१. उभा राधसः सह मादयध्यै॥२.१३॥

अन्न या धन के साथ आनन्द हेतु उन दोनों (इन्द्र+अग्नि) का ग्रहण करता हूँ।

१७२. उभा दातारा विषाꣳ रयीणाम्॥२.१३॥

तुम दोनों अन्न व धनों के देने वाले हो।

१७३. उभा वाजस्य सातये हुवे वाम्॥२.१३॥

मैं तुम दोनों को अन्न, ज्ञान व बल के दान के लिए बुलाता हूँ।

१७४. अयं ते योनिर्ऋत्वियः॥ ३.१४॥

हे ज्ञानस्वरुप अग्ने। ऋतु प्राप्त यह आग अर्थात् जिसका समय आ गया है, जो कि मेरे हृदय में जली है, यह अभीप्सा रूपी अग्नि तेरा घर है।

१७५. यतो जातोऽअरोचथाः॥३.१४॥

अभीप्सा रूपी अग्नि में प्रकट हुए तुम खूब चमकते हो।

१७६. तं जानन्नग्नऽआरोहाऽ।।३.१४।।

उस अपने घर को जानते हुए-पहचानते हुए इस मेरे हृदय में जल रही अभीप्सा रूपी आग पर जो आपका घर है, आवास है इस पर आरोहण कीजिए।

१७७. अथा नो वर्द्धया रयिम्।।३.१४।।

इस प्रकार हमारी हृदयस्थ आग में उपस्थित होकर हमारे आध्यात्मिक ऐश्वर्य को बढाइए।

१७८. अयमिह प्रथमो धायि धातृभिः।।३.१५।।

यह सर्वश्रेष्ठ (=प्रथमः) प्रभु धाताओं= सर्वभूतहित में लगे हुए अर्थात् सब के धारण-पोषण करने में प्रवृत्त लोगों के द्वारा अपने हृदयान्तरिक्ष में धारण किया जाता है। जो अपने लिए सब तरफ से अकाम हो गए, जिन्हें किसी से कुछ नहीं चाहिए, वे ही प्रभु को अपने हृदय में धारण कर पाते हैं।

१७९. होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।।३.१५।।

वे प्रभु स्वभाव से 'होता' हैं, सब कुछ देने वाले हैं (हु दाने) यजिष्ठ हैं, यजन करने वालों में सबसे बड़ें याजक हैं, कुटिलता व हिंसारहित यज्ञों में (=कर्मों में) उपासना के योग्य (=ईड्य) हैं।

१८०. यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुः।।३.१५।।

प्रभु ऐसे हैं जिन्हें उत्तम कर्मों वाले (अप्न इति कर्मनाम नि० २.१) ज्ञानी लोग (=भृगवः, भ्रस्ज पाके) ज्ञानाग्नि से अपना परिपाक करने वाले तपस्वी लोग अपने जीवन ज्ञान से दीप्त करते है (=विरुरुचुः, विदीपयन्तीत्यर्थः) जिनके हाथों में अध्वर व अप्न हैं और जिनकी वाणी में मन्त्र हैं हाथों में अध्वरों वाले ही 'अप्नवानः' हैं, वाणी में मन्त्रों वाले ही भृगु हैं।

१८१. वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे।।३.१५।।

ये प्रभु उपासकों में (वन संभक्तौ) अथवा अपने धन का यज्ञों द्वारा

औरों में विभाग करने वालों में चित्रम् अर्थात् चायनीय (दर्शनीय) हैं या चित्+र=चित्रण ज्ञान देने वाले हैं और प्रत्येक प्रजा में व्यापनशील हैं, व्याप्त हो रहे हैं।

१८२. अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳशुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्॥३.१६॥

सब विद्याओं में व्याप्त होने वाले ज्ञानी लोग (=अह्रय:, अहव्याप्तौ) अथवा समस्त अशुभ का परित्याग कर देने के कारण जो लज्जा-मुक्त हैं (अह्रय:, ही लज्जायाम्) ऐसे ज्ञानवान् लोग अपने हृदय में स्थापित किए गए प्रभु की सनातन (=प्रत्नाम्)पवित्रता कारक शुद्ध ज्योति को (=शुक्रं द्युतम्) प्रभु के ऐसे उस ज्ञान जो कि नित्य आप्यायन वर्धन करता है (=पय:,ओप्यायी वृद्धौ) जो शतश: सहस्रश: शक्तियों को प्राप्त कराने वाला है (=सहस्रसाम्, सहस्र+सन् सम्भक्तौ, सम्भक्ति =आप्ति) तथा जो प्रभु की ओर ले जाता है (=ऋषिम्, ऋष गतौ) उस ज्ञान का दोहन करते रहते हैं (=दुदुह्रे, दुह प्रपूरणे)

१८३. तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाहि॥३.१७॥

हे अज्ञान अन्धकार के निवारक ज्ञानस्वस्वरूप प्रभो! आप हमारे शरीरों के रक्षक हैं, अत: मेरे शरीर को सुरक्षित कीजिए।

१८४. आयुर्दाऽअग्नेऽसि आयुर्मे देहि॥३.१७॥

आप दीर्घ जीवन देने वाले हैं। हे अग्रणी प्रभो! मुझे दीर्घजीवन प्रदान कीजिए। अर्थात् आपका वेदज्ञान, मुझे उस मार्ग पर ले चले जिससे मैं दीर्घकाल तक जीने वाला बनूँ।

१८५. वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि॥३.१७॥

हे अग्रणी प्रभो। आप वर्चस्=तेज के दाता है। मुझे वर्चस् प्रदान कीजिए। इस नीरोग दीर्घ-जीवन में मै ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करके आपके समीप पहुँचने वाला बनूँ।

१८६. अग्ने॒ यन्मे॑ त॒न्वा॒ऽऊ॒नं तन्म॒ऽआपृ॑ण॥३.१७॥

हे मुझे आगे ही आगे ले जाने वाले प्रभो! जो मेरे शरीर की न्यूनता है, मेरी उस न्यूनता को दूर कर दीजिए (=आपृण, आ समन्तात् पृ पूरणे)

१८७. इन्धा॑नास्त्वा श॒तꣳहिमा॑ द्यु॒मन्त॒ꣳसमी॑धीमहि॥३.१८॥

हे प्रभो! ज्योतिर्मय आपको (=द्युमन्तम्) अर्थात् ज्ञानस्वरूप आपको सौ वर्ष पर्यन्त (=शतं हिमा:) अपने हृदय मन्दिर में दीप्त करते हुए हम (=इन्धाना:) खूब दीप्त होवें। इस सम्पूर्ण जीवन को ज्ञानमय बना लें।

१८८. वय॑स्वन्तो वय॒स्कृ॒त॒ꣳ॥३.१८॥

उत्तम आयुष्य वाले हम उत्तम आयुष्य के कारण भूत आपको अपने में दीप्त करें। हम अपने जीवन को उज्ज्वल बनाएँ, परन्तु हमें सदा यह भान रहे कि हमारे जीवन की इस उज्ज्वलता के कारण आप हैं।

१८९. सह॑स्वन्तःसहस्कृ॒त॑म्॥३.१८॥

उत्तम सहस् (बल+सहनशक्ति) वाले होते हुए इस सहस् को उत्पन्न करने वाले आपको हम अपने में समिद्ध करें। 'सहोऽसि' के अनुसार हम कभी यह न भूलें कि समस्त सहस् के उद्गमस्थान आप ही हैं।

१९०. अग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑नमद॑ब्धासो॒ऽअदा॑भ्यम्॥३.१८॥

हे हमारी अग्रगति के साधक प्रभो! हमारे काम -क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर आदि सब सपत्नों=शत्रुओं के नष्ट करने वाले आपको हम अपने में समिद्ध करते हैं (=समिधीमहि) परिणामत: दबने वाले न होते हुए (=अदब्धास:) दबाए न जा सकने वाले आप को (=अदाभ्यम्) हम अपने में समिद्ध करते हैं।

१९१. चित्रा॑वसो स्व॒स्ति ते॑ पा॒रम॑शीय॥३.१८॥

उत्तम ज्ञान देकर हमें बसाने वाले प्रभो! आपके दिए इस वेद ज्ञान से हमारा जीवन उत्तम हो (=स्वस्ति) हे प्रभो! आपके दिए वेदज्ञान के सहारे इस भवसागर के पार को प्राप्त करुँ (=पारम् अशीय)।

अथवा हे रात्रि देवी (=चित्रावसो, चित्रावसु रात्रि का नाम है) कल्याण के साथ तेरे पार को प्राप्त हो जाएँ, रात्रि अन्धकार का प्रतीक है और अन्धकार अज्ञान का। अज्ञान में ही भूलें होती हैं। अज्ञान की निवृत्ति का एक ही उपाय है ज्ञान की प्राप्ति। प्रार्थना है स्वस्ति पूर्वक तेरे पार हो जाएँ। अर्थात् ज्ञान की मशाल लेकर तुझ राात्रि को पार कर जाएँ।

१९२. सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः॥३.१९।

हे अग्रणी प्रभो! आप सूर्य के तेज के साथ हमें प्राप्त होओ (=सम् आगथाः,सम् आ गम्लृ गतौ) सूर्य के समान क्रियाशील, मर्यादित, तेजस्वी मेरा जीवन हो।

१९३. समृषीणाꣳस्तुतेन (आगथाः)॥३.१९॥

हे प्रभो! तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों के प्रशस्त ज्ञान के साथ आप हमें प्राप्त होओ (=सम् आगथाः) मैं सदा ज्ञानियों के संग में रहूँ।

१९४. सं प्रियेण धाम्ना (आगथाः)॥३.१९॥

हे अग्निस्वरुप प्रभो! आप हमें प्रिय तेज के साथ प्राप्त होओ। हम तेजस्वी बनें। हमारा तेज औरों की प्रीति का कारण बने। हमारा तेज किसी के लिए कष्टदायक न हो अर्थात् अहंकार से युक्त न हो, मैं किसी को नीचा न दिखाऊँ।

१९५. समहमायुषा (ग्मिषीय)॥३.१९॥

हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं उत्तम आयुष्य से संगत होऊँ (=सं ग्मिषीय) मेरा जीवन उत्तम हो।

१९६. सं वर्चसा (ग्मिषीय)॥३.१९॥

हे प्रभो! मैं वर्चस् से संगत होऊँ(=सं ग्मिषीय) अपने जीवन में निर्बल न होऊँ।

१९७. सं प्रजया (ग्मिषीय)॥३.१९॥

हे प्रभो! मेरा उत्तम व वर्चस्वी जीवन मेरी प्रजा को भी उत्तम बनाए। मैं उत्तम संतानो से उक्त होऊँ।

१९८. सꣳरायस्पोषेण ग्मिषीय॥३.१९॥

हे प्रभो! अपने बाह्य जीवन (outer life) की परिपूर्णता के लिए मैं धन की पुष्टि के साथ संगत होऊँ। पुष्टिकारक धन

मेरे पास हो । धन कहीं निधन की प्राप्ति में निमित्त न बन जाए।

१९९. अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय॥३.२०॥

हे गौओं! तुम अन्न हो (=अन्ध स्थ) यहाँ क्षीर,आज्यादि रूप अन्न का जनक होने से गौ में अन्नत्व का उपचार कर दिया है। कार्य में, कारण का उपचार प्रसिद्ध है। जैसे 'अन्नं वै प्राणा:' 'आयुर्वैघृतम्' इत्यादि वाक्यों में प्राण का जनक होने से प्राण को अन्न आयु का जनक होने से घृत को आयु तथा 'जल ही जीवन है' इस वाक्य में जीवन का जनक होने से जल को जीवन कह दिया जाता है। इसी शैली में गौओं को अन्न कह दिया है मैं आपके(=व:)क्षीर आज्यादि रूप इस अन्न का (=अन्ध:) सेवन करूँ(=भक्षीय)। इस मन्त्र का देवता 'आप:' है जो दुग्ध के रूप में वर्णित हुआ है।

२००. मह स्थ महो वो भक्षीय॥३.२०॥

हे गौओं! महशब्दवाच्य दस शक्तिजनक पदार्थों को पैदा करने से तुम मह हो। वे दस वीर्यजनक पदार्थ ये हैं- (क) प्रतिधक्= तत्काल दूहा=ताजा दूध (ख) शृतम्=गरम किया हुआ दूध (ग) शर:=दुग्धमण्ड (मलाई) (घ) दधि (ङ) मस्तु=दधिरस (च) आतञ्च=दधिपिण्ड (छ) नवनीत=मक्खन (ज) घृतम् (झ) आमिक्षा=स्फुटित दुग्ध (ञ) वाजिनम्=आमिक्षा जल। मैं आपके (=व:) वीर्यजनक इन दस पदार्थों का (=मह:) सेवन करूँ (=भक्षीय)।

२०१. ऊर्ज: स्थोर्ज वो भक्षीय॥३.२०॥

हे गौओं! बल उत्साह व आनन्द के हेतु क्षीर की जनक होने से तुम

बलरूप हो। मैं तुम्हारे (=वः) बलजनक दुग्धादि का सेवन करूँ (=भक्षीय)

२०२. रा॒यस्पोषं॑ स्थ रा॒यस्पोषं॑ वो भक्षीय॥३.२०॥

हे गौओं! तुम रायस्पोष हो। वैश्य लोग आपके ही क्षीरघृतादि के विक्रय से धन का पोषण करते हैं। मैं आपके (=वः) रायस्पोष का (=रायस्पोषम्) सेवन करने वाला बनूँ (=भक्षीय)।

२०३. रेव॑ती रमध्वम॒स्मिन् योनौ॥३.२१॥

मन्त्र का ऋषि याज्ञवल्क्य है, जिसने यज्ञ को वल्क=अपना संवरण बनाया हुआ है। याज्ञवल्क्य वह है जिसके दिन का प्रारम्भ भी यज्ञ से और समाप्ति भी यज्ञ से। इस प्रकार इसका जीवन यज्ञ का सम्पुट बन गया है। ऋषि याज्ञवल्क्य गौओं को सम्बोधित करके प्रार्थना करते हैं - धन का हेतु होने से हे धनवती गौवो (=रेवतीः, रयिर्विद्यते यासाम्) अपने इस (गोयूथसम्बन्धी प्रजननी) उत्पत्तिस्थान में ही (=अस्मिन् यौनौ) तुम रमण करो (=रमध्वम्)। यहाँ स्पष्ट ही गौवें इस घर में ही उत्पन्न होती हैं, यहाँ ही रहती हैं। उनका विक्रय यथासम्भव नहीं होता।

२०४. अस्मिन् गो॒ष्ठे (रेवतीः, रमध्वम्)॥३.२१॥

हे धन के साक्षात् मूर्त्तरूप गौवों तुम इस गोष्ठ में (गोसञ्चारप्रदेश में) ही रमण करो। (गोष्ठशब्देन गृहाद् बहिर्विश्रामेण सञ्चारप्रदेश उच्यते)।

२०५. अस्मिन् लो॒के (रेवतीः रमध्वम्)॥३.२१॥

हे गौवों! इस यजमान के दृष्टिविषय में (लोकृ दर्शने) रमण करो अर्थात् गृहपति की दृष्टि तुम पर सदा बनी रहे उसकी आँख से तुम ओझल न होओ।

२०६. अस्मिन् क्षये॑ (रेवतीः रमध्वम्)॥३.२१॥

हे गौवों! इस यजमान के निवासस्थानभूत घर में तुम आनन्द से रहो।

२०७. इ॒हैव स्त॒ माप॑गात॥३.२१॥

हे गौवों! तुम यहाँ ही होवो (=स्त) यहाँ से दूर मत जाओ (=मा

अपगात)। इस घर की निरोगता, पवित्रता व वृद्धि की भास्वरता सब कुछ तुम पर ही आश्रित है, अत: तुम यहीं निवास करो।

२०८. संहिताऽसि विश्वरूप्यर्जा माविश गौपत्येन॥३.२२॥

हे गौ! तू अनेक रूपों वाली संघटना है (विश्वरूपी संहिताऽसि)। अनेकरूपों में प्राणियों को लाभ पहुँचाती है। तू बल देने वाली होकर (=ऊर्जा) गोपालन या गोस्वामित्व के भाव से मुझ में प्रविष्ट हो (=मा आ विश)। मैं तेरा सच्चे अर्थों में गोस्वामी बनूँ।

अथवा वेद वाणी को भी 'गौ' कहते हैं, तब अर्थ होगा- वेदवाणी अनेक रूपों वाली इस संघटना है। जीवन की परिपूर्णता के लिए वेदवाणी में सभी आवश्यक तत्त्वों का निरूपण हुआ है। यह वेदवाणी बल, प्राणशक्ति व उत्साह के साथ मुझ में प्रविष्ट हो। मैं वेदवाणी का अध्ययन व मनन कर इन्द्रियों का स्वामी बनूँ (=गौपत्येन, गाव=इन्द्रियाणी तेषां पतित्वेन)।

२०९. उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥३.२२॥

इन्द्रियों का निरोध कर हम वेदवाणी के स्थापक प्रभु का स्मरण करते हैं - हे ज्ञानस्वरूप अग्ने! हम सब प्रतिदिन (=वयं दिवे दिवे) रात दिन (=दोषावस्त:) श्रद्धा बुद्धि से तुझे नमन करते हुए (=धिया नमो भरन्त:) तेरे पास आते हैं (=त्वा उप आ इमसि)

२१०. राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम्॥३.२३॥

सर्वत्र प्रकाशमान (=राजन्तम्) अर्थात् जिसके कारण से ही सर्वत्र सब विभूतिमान् श्रीमान् व ऊर्जित हुआ-हुआ है। जो सब यज्ञों के रक्षक हैं, हिंसा व कुटिलता से रहित कर्मों के वे पालक हैं (=अध्वराणां गोपाम्)। जो सत्य के प्रकाशक हैं (=ऋतस्य दीदिवम्) जीवन में सत्य का मूल्य, सत्य की महिमा का स्रोत वही है।

२११. वर्द्धमानं स्वे दमे॥३.२३॥

वे प्रभु अपने स्वरूप में सदा वर्धमान हैं। संसार के सभी पदार्थ क्षीणता व न्यूनता से युक्त हो जाते हैं किन्तु वह प्रभु भक्तों के हृदयरूपी अपने घर में (=स्वे दमे) विद्यमान रहते हुए सदा बढ़ते ही रहते हैं। कभी उनमें न्यूनता, ह्रास या क्षीणता नहीं आती।

२१२. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव॥३.२४॥

हे प्रभो! हमारी उन्नति के साधक आप जैसे पुत्र के लिये पिता सुगमता से प्राप्त होने योग्य होता है (=सूनवे पिता इव) वैसे हमारे लिए (=नः) सरलता से प्राप्त होने योग्य हो जाइए (=सूपायनः भव) अर्थात् पुत्र जिस प्रकार पिता के पास आसानी से ही जाता है, बीच में किसी की जरूरत नहीं होती, उसी तरह प्रभु के पास हम पहुँचे।

२१३. सचस्वा नः स्वस्तये॥३.२४॥

हे प्रभो! आप हमें उत्तम जीवन के लिए (=स्वस्तये) संयुक्त कीजिए (=सचस्व) अर्थात् हम सदैव कल्याण के साथ सम्बद्ध रहें।

२१४. अग्ने त्वं नोऽअन्तम उत त्राता॥३.२५॥

हे प्रकाशमय प्रभो! आप हमारे अन्तिकतम मित्र हैं। आपसे अधिक हमारे निकट कोई नहीं है (Intimate friend) और आप ही हमारे असली रक्षक हैं। आपकी कृपा से ही हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं से सुरक्षित रह पाते हैं।

२१५. शिवो भवा वरूथ्यः॥३.२५॥

हे प्रभो! हमारे लिए मङ्गलमय मङ्गल करने वाले और घरेलू मित्र हो जाओ। आप हमारे लिए उत्तम आवरण बन जाओ (=वरूथ्यः, वृ संवरणे

२१६. वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि॥३.२५॥

हे प्रभो! आप सब को बसाने वाले हैं (=वसुः) सभी प्राणी जिस में वास करते हैं तथा जो सब प्रणियों में बस रहा है ऐसे विज्ञानप्रकाशमय

(अग्निः) सबको सुनने के लिए श्रेष्ठ कानों को देने वाले (=वसुश्रवाः) आप हमें आभिमुख्येन प्राप्त होओ, अच्छी प्रकार प्राप्त होओ (=अच्छा नक्षि, नक्ष् गतौ)।

२१७. द्युमत्तमं रयिं दाः॥३.२५॥

हे प्रभो! हमें अधिक से अधिक ज्योतिर्मय धन प्रदान कीजिए। धन मेरी ज्योति के वर्धन का कारण बने न कि ह्रास का।

२१८. तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥३.२६॥

हे पवित्रतम (=शोचिष्ठ) प्रकाशमय आनन्दप्रद (=दीदिवः) प्रभो! उस आप से निश्चय ही सुख के लिए हम याचना करते हैं (=ईमहे) और साथ में ऐसे मित्रों के लिए जो कि मिलकर ज्ञान की ही चर्चा करने वाले हों उन सखाओं के लिए (=सखिभ्यः) याचना करते हैं। ऐसे साथियों के सम्पर्क से ही हम इस संसार यात्रा में आगे बढ़ेंगे।

२१९. स नो बोधि श्रुधी हवम्॥३.२६॥

वह आप हमें बोध से युक्त कीजिए (=बोधि) ज्ञानप्रवण मित्रों के सम्पर्क में रहकर हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाए। हे प्रभो आप हमारी इस पुकार को (=हवम्) अवश्य सुनिए (=श्रुधी)

२२०. उरुष्या णोऽअघायतः समस्मात्॥३.२६॥

हे प्रभो! आप हमें बुराई व दूसरे को पीड़ा देने रूप पाप को चाहने वाले (=अघायतः) सभी लोगों से (=समस्मात्) बचाइए (उरुष्य)

२२१. इडऽएह्यदितऽएहि काम्याऽएत॥३.२७॥

हे अन्नरूपी गौ! (=इडे) यहाँ आ। (=एहि) हे अदीनता करने वाली गौ (=अदित) यहाँ आ। हे सबके द्वारा चाहने योग्य गौवो (=काम्याः) यहाँ आवो (=एत)। वेद में 'गो' को सम्बोधित करके या 'गो' की महिमा में बोले गये

जो मन्त्र हैं वे वाणी पर भी लागू होते हैं। ऐसे प्रसङ्गो में स्वाभाविक रूप से वाणी से वेद वाणी का ग्रहण हो जाता है। तब मन्त्रार्थ होगा–

हे इडे=वेदवाणी तू मुझे प्राप्त हो। इडा माने A law (इ+डा=ला law) मेरा जीवन किसी भी स्तर पर कानून (law) का भंग न करे। शरीर, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व, प्रकृति सर्वत्र सभी स्तरों पर नियमों का जाल विछा हुआ है। मैं कहीं भी किसी स्तर पर भी जीवन को नियम से दूर न ले जाऊँ। हे अदीनता प्रदान करने वाली वेदवाणी मुझे अदीनता=स्वाधीनता प्रदान कर। अथवा अखण्डित रहने वाली वेदवाणी मुझे अखण्डता प्रदान करो, मेरा जीवन विभाजित न हो। हे कमनीय (कामना करने योग्य) वेदवाणियों। हमें प्राप्त होओ (= एत, आ इ गतौ +त)।

२२२. मयि॑ वः काम॒धर॑णं भूयात्॥३.२७॥

हे वेदवाणियों! तुम्हारा (=वः) मुझ में इच्छापूर्वक धारण (=कामधरणम्) होवे। मैं वेदज्ञान की कामना वाला होऊँ जैसा कि मनु ने भी कहा है- 'काम्यो हि वेदाधिगमः'। गौ पक्ष में मन्त्रार्थ होगा- हे गौओ! तुम्हारे अन्दर जो कामना की पूर्णता करने की शक्ति है वह मुझे मिले।

२२३. सो॒मान॒ स्वर॑णं कृणु॒हि ब्र॑ह्मणस्पते॥३.२८॥

हे वेद ज्ञान के स्वामिन् परमेश्वर (=ब्रह्मणस्पते) आप मुझे सोम गुण से, सौम्य स्वभाव से व स्वरण (सु ऋ गतौ) उत्तम गति= प्रगति से युक्त कर दीजिए।

२२४. क॒क्षीव॑न्त॒ यऽऔशि॒जः (सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते)॥३.२८॥

हे ज्ञानाधिपते परम ईश्वर! जैसे अपनी उन्नति चाहने वालों में अग्रगण्य (=औशिजः, उशिक्+अण्, वश कान्तौ) कटिबद्ध, सजग, मुस्तैद कक्षीवान् को (=कक्षीवन्तम्) आपने ज्ञानवान् तेजस्वी प्रगति सम्पन्न किया वैसे ही मुझे भी कर दो।

कक्ष्या कहते हैं- कमर में बांधने की रस्सी। कक्ष्यावान् ही कक्षीवान् है अर्थात् जिसने उन्नति के लिए अपनी कमर कस रखी है। 'कमर कसना' आज भी भाषा में एक मुहावरा प्रचलित है वेद में किसी शब्द से पुत्र अर्थ में जब प्रत्यय होता है तो उस प्रकृतिभूत शब्द की बढ़ी हुई अवस्था को बताने के लिए होता है। अत: यहाँ 'उशिक्' का अर्थ सामान्य रूप से जो उन्नति की चाह वाला है तो 'औशिज:' का अर्थ होगा- उन्नति के लिए विशेष रूप से व्यग्र। इस प्रकार यह एक उपमा दी गई है कि औशिज होकर जिसने अपनी कमर कस ली है उसको जैसे सौम्य व उत्तम बना दिया, मुझे भी वैसा ही बना दीजिए। इस मन्त्र का ऋषि भी 'श्रुतबन्धु' है जिसने श्रुतज्ञान को अपना बन्धु बना लिया।

२२५. यो रेवान् योऽअमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः॥३.२९॥

मेधा प्राप्ति के लिए गतिशील ऋषि बृहस्पति रूप आचार्य की आवश्यकता अनुभव करता हुआ कहता है- हमें वह प्राप्त हो (=य: रेवान्=रयिमान्, रयि-धन) जो रोगों को नष्ट करने वाला है (=य: अमीवहा, अम रोगे, आम= अपचित आहार से उत्पन्न रोग, उनका नाशक) जो निवास के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं को प्राप्त कराने वाला है (=वसुवित्) अथवा सब वस्तुओं को यथावत् जानने वाला, जनाने वाला है वह वसुवित्, जो सब प्रकार से हमारी पुष्टि=शरीर व आत्मा के बल को बढ़ाने वाला है (=पुष्टिवर्धन:) जो शीघ्रता से सब कार्यों को करने वाला- निरालस्य है अथवा काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नाश करने वाला (=य: तुर:) है।

अथवा ये सभी शब्द परम ईश्वर की तरफ संकेत कर रहे हैं कि ऐसा-ऐसा गुण-सम्पन्न प्रभु हमारा साथी होकर हमारी सहायता करे। अर्थात् हम ऐसे कर्म करें कि वह प्रसन्न होकर हमारी पूर्ण रीति से सहायता करे (तुल० ऋ०- १.१८.२)

२२६. मा नः शꣳसोऽअररुषो धूर्तिः....(प्रणङ्)।।३.३०।।

हे ज्ञान के पति आचार्य अथवा परमात्मन्! (=ब्रह्मणस्पते) हमें (=नः) न देने की वृत्ति वाले कृपण पुरुष की (=अररुषः) शंसन या बातें (=शंस) नष्ट करने वाली न हों (=मा प्रणङ्) अथवा इसकी बातें हमें व्याप्त करने वाली न हों, हमारे मनों पर इनकी वातों का प्रभाव न हो (प्रणङ् इति नशेर्व्याप्त्यर्थस्य एतद् रूपम्- उव्वट)।

इनकी बातों का स्वरूप यही होता है कि भाई! व्यक्ति को तो इसलिए नहीं देना चाहिए कि ये आलसी हो जाते हैं, उनमें पर-पिण्ड जीवन की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। संस्थाओं को भी इसलिए नहीं देना चाहिए कि वहाँ बड़ी निर्दयता से धन का अपव्यय होता है, रुपयों का गबन हो जाता है, वहाँ लोग काम कम करते हैं- रुपये अधिक लेते हैं। सरकार के कामों में ते अन्धेर खाता है ही, वहाँ तो करोड़ों का भी कुछ पता नहीं चलता। प्रभु कृपा से हमें ये बातें अररिवान् (अदाता, कृपण) न बना दें।

२२७. (मा नः) धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य।।३.३०।।

हे परमात्मन् ऐसी कृपा कीजिए कि मरने-मारने के स्वभाव वाले अथवा किसी सांसारिक वस्तु के पीछे मरने वाले मनुष्य की (=मर्त्यस्य) हिंसा (=धूर्तिः) हमें मत नष्ट करे या मत व्याप्त हो (=मा नः प्रणङ्) हम उन लोगों की हिंसाओं के शिकार न हों अर्थात् ऐसी हिंसाओं के करने की हमारी वृत्ति न बन जाए।

२२८. रक्षा णो ब्रह्मणस्पते।।३.३०।।

हे ज्ञान के स्वामिन् आचार्य अथवा परमात्मन् इस प्रकार अदान व हिंसा की वृत्ति से बचाकर हमें इस भवसागर में ही गोते खाते रहने से बचाइए (=नः रक्ष)

२२९. महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य।।३.३१।।

हे ब्रह्मणस्पते! हे जगदीश्वर! मित्र, अर्यमा व वरुण इन तीनों की रक्षा (=अवः) हमारे लिए बड़ी तेजस्वी (=महि द्युक्षम्) और अधर्षणीय (=दुराधर्षम्) हो।

मित्र अधिदैवत में सूर्य है और अधिभूत में सुहृत् है। अर्यमन् अधिदैवत में आदित्य है, अधिभूत में श्रेष्ठ मन वाला महात्मा है। वरुण अधिदैवत में जलाधिपति देव है, अधिभूत में जीवन का रक्षण कर्ता है। अध्यात्म में मित्र आत्मा है, अर्यमा हृदय है और वरुण प्राण है। प्रत्येक क्षेत्र में इन तीनों की बड़ी सहायता हो रही है।

जिसमें हीनता या दीनता का भाव नहीं है वह द्युक्ष है। शत्रु के द्वारा जिसका धर्षण नहीं हो सकता, शत्रु जिस पर आक्रमण नहीं कर सकते और यदि शत्रु ने आक्रमण कर भी दिया तो वे निश्चित ही परास्त होते हैं। इस तरह का संरक्षण इन तीनों देवताओं से प्राप्त है।

२३०. नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः॥३.३२॥

गत मन्त्रस्थ मित्र अर्यमा और वरुण वे उपासकों को (=तेषाम्) पाप की स्तुति करने वाला शत्रु (=अघशंसः रिपुः) घर में (=अमा) मार्गों में (=अध्वसु) अथवा संग्रामों में (वारणेषु) कभी भी समर्थ नहीं हो पाता (=न ईशे) सत्यधृति वारुणि मन्त्र का ऋषि अघशंस पुरुषों के सङ्ग से अपने को बचाता है। अघशंस पाप के प्रशंसक मीठे शब्दों में पाप की प्रशंसा करके सामान्य व्यक्ति को लुभा लेते हैं। किन्तु ईश्वर के उपासकों को वे प्रभावित नहीं कर पाते।

२३१. ते हि पुत्रासोऽअदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्॥३३॥

वे सत्यधृति वारुणि जिसकी चर्चा गत मन्त्रों में हुई, निश्चय ही अदिति माता के सच्चे पुत्र होते हैं (=अदितेः पुत्रासः) जो न तो तन से खण्डित होते हैं

न मन से। वे विषयों के पीछे मरने वाले सामान्य मनुष्यों के लिए (=मर्त्याय) निरन्तर (अजस्रम्) जीवन के लिए (=जीवसे) ज्ञान के प्रकाश को देते हैं (=ज्योतिः प्रयच्छन्ति)। हमारा संग ऐसे ही लोगों के साथ रहे।

२३२. कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे॥३.३४॥

हे परमैश्वनर्यशाली प्रभो! आप कभी भी वन्ध्या गौ की तरह निष्फल नहीं हो (=कदाचन स्तरीः न असि) समर्पणकर्ता सदा प्राप्त होते हो (=दाशुषे सश्चसि)

२३३. उपोपेन्नु मघवन् भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥३.३४॥

हे पापशून्य ऐश्वर्य वाले प्रभो दिव्यगुण युक्त आपका दान अब निश्चय से उतना ही अधिक मेरे साथ सम्पृक्त होता है (=पृच्यते) जितना-जितना मैं आपके समीप प्राप्त होता हूँ।

२३४. तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि॥३.३५॥

सर्वोत्पादक देव का वह जो वरेण्य (वरण करने योग) भर्ग (तेज) है उसे हम धारण करें।

२३५. धियो यो नः प्रचोदयात्॥३.३५॥

जो प्रभु हमारी बुद्धियों को शुभ में प्रेरित करे।

२३६. परि ते दूडभो रथोऽस्माँ२॥ऽअश्नोतु विश्वतः येन रक्षसि दाशुषः॥३.३६॥

तुम्हारा जो नष्ट न करने योग्य न दबने योग्य विज्ञानरूप रथ है [=ते दूडभः (दुःखेन दम्भितुं हिंसितुं योग्यः) रथः] जिसके द्वारा अपने भक्तों की रक्षा करते हो वह हमें सब ओर से व्याप्त करे, घेरे रहे। यहाँ यह ध्यातव्य है जैसे गीता में 'असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः' (गीता- ३.३६) इस श्लोक में 'दुष्प्रापः' का अर्थ 'न प्राप्तुं शक्यः' लिया जाता है वैसे ही 'दूडमः' शब्द का अर्थ न दबने योग्य, या न नष्ट करने योग्य होगा। ऐसे प्रसङ्गों में दुर् माने दुःख और दुःख का अर्थ निषेध लिया जाता है, जैसे कि

संन्यासस्तु महाबाहो दु:खमाप्तुमयोगत:। श्लोक में दु:ख शब्द का प्रयोग हुआ है। श्लोकार्थ है बिना कर्मयोग के आन्तरिक संन्यास नहीं प्राप्त किया जा सकता।

२३७. भुर्भुव: स्व: सुप्रजा: प्रजाभि: स्याꣳसुवीरो वीरै: सुपोष: पोषै:॥३.३७॥

हे सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभो! मैं सन्तानों से उत्तम सन्तान वाला बनूँ (=प्रजाभि: सुप्रजा: स्याम्) उत्तम वीरों से=वीरपुत्रों से सुसन्तान वाला बनूँ (=वीरै: सुवीर:) अर्थात् ज्ञान के द्वारा वीरता की भावनाओं से काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कम्पित करने की भावना से मैं उत्तम वीर बनूँ। पोषणों के द्वार उत्तम पोषण वाला होऊँ (=पोषै: सुपोष:)। पोषण के विषय में चरक में एक सूत्र है-

'हिताशी स्यान् मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रिय:'। (च. निदा०- ६.११) हितकर भोजन करे, परिमित (मात्रा में) भोजन करे, समय पर भोजन करे और सबसे बड़ी बात जितेन्द्रिय हो। जितेन्द्रियता के बिना पोषण सम्भव ही नहीं।

२३८. नर्य प्रजां मे पाहि॥३.३७॥

हे नरहित करने वाले प्रभो! (=नर्य) मेरी प्रजा को सुरक्षित कीजिए।

२३९. शꣳस्य पशून् मे पाहि॥३.३७॥

हे प्रशंसायोग्य प्रभो! मेरे पशुओं की रक्षा करो। अधिभूत में गो आदि पशु हैं। अध्यात्म में इन्द्रियाँ पशु हैं।

२४०. अथर्य पितुं मे पाहि॥३.३७॥

हे विषयों से आन्दोलित न होने वाले प्रभो! (=न थर्वति-अथर्य) अथवा हे संशयरहित! (=थर्वतिश्चरतिकर्मा। नि.- ११.१८ थर्वति संशेते य: स थर्यो न थर्य्योऽथर्य्यस्तत्सम्बुद्धौ। वर्णव्यत्ययेन वकारस्थाने यकार:) मेरे अन्न (=पितुम्) की रक्षा करो।

२४१. आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्॥३.३८॥

हे तेजस्वी अग्ने, शक्ति से (सम्+राज्) देदीप्यमान प्रभो! (सम्राड् अग्ने) आप की कृपा से हम हमारे लिए (=अस्मभ्यम्) निवास हेतु आवश्यक वस्तुओं को उत्तमता से प्राप्त कराने वाले (=वसुवित्तमम्) सम्पूर्ण धन को (=विश्ववेदसम्) प्राप्त हों (=आगन्म)

२४२. अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥३.३८॥

हे तेजस्वी प्रभो (=सम्राड् अग्ने) आप कृपा करके मुझे ज्ञान-ज्योति की ओर (=द्युम्नम् अभि) एवं सहनशक्ति से परिपूर्ण बल की ओर (=सहः अभि) ज्ञान-ज्योति व बल की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण उद्यम वाला कीजिए। हमारा सारा पुरुषार्थ ज्ञान व बल को प्राप्त करने के लिए हो। हमारा ध्येय 'ज्ञान+बल' ही हो। यही हमारी प्रार्थना हो कि 'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'।

२४३. अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः॥३.३९॥

यह गार्हपत्य अग्नि ही घर का स्वामी है (=अयं गार्हपत्यः अग्निः गृहपतिः) प्रजा को धन देने वाला है (=प्रजाया वसुवित्तमः)।

२४४. अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥३.३९॥

हे प्रकाश के अधिदेवता प्रभो (=अग्ने) हमारे शरीररूपी गृहों के रक्षक प्रभो! (=गृहपते) ज्ञान-ज्योति की ओर (=द्युम्नम् अभि) तथा बल की ओर (=सहः अयि) सम्पूर्ण उद्यमवाला कीजिए (=आयच्छस्व)।

२४५. अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः॥३.४०॥

इस संसार के प्रत्येक परिवर्तन में जिसका हाथ दिखता है वह सबको उन्नत करने वाला प्रभु (=अयम् अग्निः) पालन व पूरण करने वालों में उत्तम है (=पुरीष्यः पॄ पालनपूरणयोः)।

२४६. अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥३.४०॥

हे उन्नति के साधक प्रभो (=अग्ने) पालन व पूरण करने वालों में उत्तम

प्रभो! (=पुरीष्य) आप हमें ज्ञान ज्योति की ओर (=द्युम्नम् अभि) और बल की ओर (=सहः अभि) सम्पूर्ण उद्यम वाला कीजिए (=आयच्छस्व)।

२४७. गृहा॒ मा बि॑भीत॒ मा वे॑पध्व॒मूर्ज॒ विभ्र॑त॒ऽएम॑सि॥३.४१॥

हे ब्रह्मचर्य आश्रम से सब विद्याओं को ग्रहण किए गृहाश्रमी मनुष्यो (=गृहाः) शौर्यादि पराक्रमों को धारण करते हुए तुम (=ऊर्जं बिभ्रतः [यूयम्]) गृहस्थाश्रम को यथावत् प्राप्त होओ, उस गृहस्थाश्रम के अनुष्ठान से मत डरो (=मा बिभीत) तथा मत कांपो (=मा वेपध्वम्) उत्साह से भरे हुए हम भी तुम्हारे घरों में प्राप्त होते हैं (=ऊर्जं बिभ्रतः [वयं] एमसि= आ इमसि) उपदेश देने वाले संन्यासी आदि की ओर से बोला गया वाक्य है, एमसि क्रिया का कर्ता उपदेष्टा है, उत्तमपुरुष बहुवचन का प्रयोग है।

२४८. ऊर्ज॒ बिभ्र॒द्वः सु॒मनाः॑ सु॒मे॒धा गृ॒हानै॑मि॒ मन॑सा॒ मोद॑मानः॥३.४१॥

ऊर्जा को अर्थात् बल व प्राणशक्ति को धारण करता हुआ (=ऊर्जं बिभ्रद्) सुन्दर मन वाला- जिस मन के अन्दर किसी प्रकार की अशुभ इच्छा उत्पन्न नहीं होती उस मन को धारण करता हुआ (=सुमनाः) उत्तम मेधा वाला (=सुमेधाः) सदा प्रसन्न मन वाला (=मनसा मोदमानः) मैं भी तुम्हारे घरों को (=वः [=युष्माकम्] गृहान्) प्राप्त होता हूँ (=एमि) एमि क्रिया का कर्ता पूर्व वाक्य के समान यहाँ भी उपदेष्टा ही है।

२४९. येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न् येषु॑ सौमन॒सो बहुः॑।
गृ॒हानु॑प॒ह्वया॑महे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः॥३.४२॥

हम उन घरों को पुकारते हैं अर्थात् उन घरों के लिए प्रार्थना करते हैं (=गृहानुपह्वयामहे, ह्वेञ् शब्दे) जिनका (=येषाम्) प्रवास में रहता हुआ मनुष्य (=प्रवसन्) स्मरण करता है (=अध्येति) कोई सुखभोग, किसी के द्वारा हमारे साथ किया गया सद्व्यवहार अपने आप ही याद आता रहता है। याद तो किसी का दुर्व्यवहार भी आता है, पर वह बचने के लिए आता है

किन्तु सद्व्यवहार की स्मृति पुनः पुनः उस व्यक्ति का सम्पर्क चाहती है। हम उन घरों को पुकारते हैं जिनमें (=येषु) बहुत अधिक सौमनस्य है, जिन घरों, परिवारों संस्थाओं के लोगों का मन बहुत अच्छा है, परस्पर प्रेम है, एक-दूसरे के प्रति सम्मान का भाव है, किसी का भी किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष-जलन आदि दुर्भाव नहीं। ऐसे घर प्रवास काल में याद आते हैं। मन्त्र की अन्तिम बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है- वे घर (=ते) जहाँ परस्पर एक-दूसरे के उपकार को जानते हैं, कृतघ्न नहीं हैं (=जानतः) वे हम लोगों को (=नः) जानें (=जानन्तु) अर्थात् परिवार के सबी सदस्य एक-दूसरे के द्वारा की गई भलाई को भूल न जाएँ, पति-पत्नी के और पत्नी-पति के उपकार को समझे। भाई-भाई की भलाई को भूल न जाए। पुत्र युवा होने पर माता-पिता के ऋण को भूल न जाए और अन्त में घर के सब व्यक्ति उस परमपिता प्रभु की कृपाओं को विस्मृत न कर दें। उस प्रकार इस घर में कृतघ्नता प्रवेश न हो।

२५०. उपहूताऽइह गावऽउपहूताऽ अजावयः॥३.४३॥

इस घर में (=इह) गाएँ पुकारी गई (=गावः उपहूताः) गाएँ घर की पहली आवश्यकता होनी चाहिए। ऊन के लिए भेड पुकारी गई और चूँकि बकरी का दूध क्षयरोग नाशक होता है इसलिए दुग्ध हेतु बकरियाँ पुकारी गई।

२५१. अथोऽअन्नस्य कीलालऽउपहूतो गृहेषु नः॥३.४३॥

गाय,भेड व बकरियों के पश्चात् हमारे घरों में (=नः[=अस्माकम्] गृहेषु) अन्न का रस (=अन्नस्य कीलालः) पुकारा गया (=उपहूतः)। घरों में अन्न रस की कमी न हो, मांस रस का प्रवेश न हो।

२५२. क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये॥३.४३॥

हे घरो! मैं तुम्हें (=वः [युस्मान्] योगक्षेम के लिए और शान्ति के लिए प्राप्त होता हूँ। मनुष्य घर इसलिए बनाता है कि वहाँ उसे क्षेम और शान्ति प्राप्त हो।

२५३. शि॒वꣳश॒ग्मꣳशं॒योःशं॒योः॥३.४३॥

हमें इन घरों में ऐहिक सुख प्राप्त हो (=शिवम्) साथ हमारे घर में आयुष्मिक सुख भी प्राप्त हो (=शग्मम्) अर्थात् अभ्युदय व निःश्रेयस दोनो को सिद्ध करने वाले हों। हमारे इन घरों में खान पान की कमी न हो पर उसमें आसक्ति भी न हो। इस घर में शान्ति चाहने वाले के (=शंयोः) रोगों का शमन हो तथा अभीभयों का दूरीकरण हो (=शंयोः [=शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्- निरू.८.२१]

२५४. हवामहे म॒रुत॑श्च॥३.४४॥

हम ऋषियों को (=मरुतः, ऋत्विङ् नाम- नि.- ३.८१) पुकारते हैं (=हवामहे) जिससे उनके उपदेशों का हमारी सन्तान पर सुन्दर प्रभाव पड़े।

२५५. प्र॒घा॒सिनो॑ ..... रि॒शाद॑सः॥३.४४॥

कैसे ऋषियों को पुकारते हैं? इसका उत्तर है- जो प्रकृष्ट घास वाले (घस्लृ आदने) उत्तम वानस्पतिक भोजन करने वाले अर्थात् जो ऋत्विग् मांसभोजन से सदा दूर रहते हैं, जिनका भोजन हविर्मय है। ऋषियों की दूसरी विशेषता है जो हिंसा को अपने में से समाप्त कर देते हैं, जिनका मन हिंसा-वृत्ति से सदा दूर रहता है (=रिशादसः) और ऋषियों की तीसरी विशेषता है जो दधि=मिश्रित सत्तुओं का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं (=करम्भेण सजोषसः, करम्भो यवमयो हविर्विशेषः) आचार्य दयानन्द 'करम्भ' शब्द का अर्थ लिखते हैं- 'अविद्याहिंसनेन समानप्रीतिसेविनः' अर्थात् अविद्या के हिंसन का जो प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं अर्थात् जिन्हें अविद्या के दूर करने में आनन्द का अनुभव होता है।

★★★

ईश्वर स्तुति-प्रार्थना-उपासना

- ओम् असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
  मृत्योर्माऽमृतं गयम।
- यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय। (तैत्ति०शि० चतुर्थ अनुवाक- (मेधाकामस्य जपः)
- आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणाचीरमात्मनः वासाꣳसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

  (तैत्ति०शि० चतुर्थ अनुवाक- (श्रीकामस्य होमः)
- यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्त्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा। यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायान्तु सर्वतः। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा प्रद्यस्व।

  (तैत्ति०शि० चतुर्थ अनुवाक- (श्रीकामस्य होमः)
- भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत् ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व।।

  (तैत्ति०शि० षष्ठ अनुवाक)
- अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्। (तैत्ति०शि० दशम अनुवाक)

- यस्माज्जातं जगत् सर्वं यस्मिन्नेव प्रविलीयते।
  येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः।। (तैत्ति०शिक्षावल्ली)
- ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। (तैत्ति०शिक्षावल्ली शान्तिपाठ)
- ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

  (ऐत० शान्तिपाठ)
- ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
  पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

  (ईशा० शान्तिपाठ बृहदा० शान्तिपाठ)
- ईशिता सर्वभावानां सर्वभूतमयश्च यः
  ईशावास्येन सम्बोध्यमीश्वरं तं नमाम्यहम्।। (ईशा० मङ्गला०)
- ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। (केनो० शान्तिपाठ)
- यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वदृक्तथा।
  सर्वभावपदातीतं स्वात्मानं तं स्मराम्यहम्।। (तैत्ति० शि० मङ्गला०)
- ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

  (काठको० शान्तिपाठ)

- भावाभावपदातीतं भावाभावात्मकं च यत्।
  तद् वन्दे भावनातीतं स्वात्मभूतं परं महः।। (मु० मङ्गला०)
- ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
  स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
  स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।।
  स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
  ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। (मु० शान्तिपाठ)
- जाग्रदादित्रयोन्मुक्तं जाग्रदादिमयं तथा।
  ओङ्कारैकसुसंवेद्यं यत्पदं तन्नमाम्यहम्।। (माण्डूक्यो० मङ्गला०)
- ॐ भद्रं नो अपिवातय मनः। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
- ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।
- यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
  तं ह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।। (श्वेताश्व०-६.१८)
- तन्मे॒ मनः॒ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु।। (यजु०- ३४.१)
- भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम।। (यजु०- ४०.१६)
- यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्योयोऽस्ति किञ्चित्।
  वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।।
  (निरु०- २.१.३)
- तु॒ञ्जेतु॑ञ्जे॒ य उत्त॑रे॒ स्तोमा॒ इन्द्र॑स्य व॒ज्रिणः॑।
  न वि॑न्धे अस्य सुष्टु॒तिम्॥ (ऋग्०- १.७.७)
- त्र्य॑म्बकं यजामहे सुग॒न्धिं पु॑ष्टि॒वर्ध॑नम्।
  उ॒र्वा॒रु॒कमि॑व॒ बन्ध॑नान्मृ॒त्योर्मु॑क्षीय॒ माऽमृता॑त्।। (यजु०- ३.६०)
- जा॒तवे॑दसे सुनवाम॒ सोम॑मरातीय॒तो नि द॑हाति॒ वेद॑ः।
  स नः॑ पर्ष॒दति॑ दु॒र्गाणि॒ विश्वा॑ ना॒वेव॒ सिन्धुं॑ दु॒रि॒ता॒त्य॒ग्निः॥
  (ऋग्०- १.९९.१)

- त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
  न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः।। (यजु०- ६.३७)
- एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम्।
  एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।। (काठ०- १.२.१६)
- एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
  एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।। (काठकोपनिषद्- १.२.१७)
- यद् द्यावः इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
  न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥
  (अथर्व०- २०.८१.१, २०.९२.२०)
- तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
  तरत्स मन्दी धावति॥ (ऋग्०- ९.५८.१)
- विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मतीस ऊतये। अग्निं गीर्भिर्हवामहे॥
  (ऋग्०- ८.११.६)
- इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्याः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः।
  सर्पो जीर्णमिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य।।
  (नि०परि०- १४.३४)
- तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।
  य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।। (छा०- ५.२४.३)
- यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति। एतꣳह वाव न तपति। किमहꣳसाधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳस्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।
  (तैत्ति०उप०ब्रह्मा०- ९.१)
- स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। (तैत्ति०उप०ब्रह्मा०- ८.५)
- ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
  अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।। (मु०- २.२.१२)

- भद्रं भवाति नः पुरः॥ (ऋग्०- २.४१.११)
- तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥ (यजु०- ३२.१२)
- आत्मानमभि संविवेश॥ (यजु०- ३२.११)
- यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥ (यजु०- ३२.९)
- धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्। (ऋग्०- १.८९.५)
- भगेमां धियमुदवा ददन्नः। (ऋग्०- ७.४१.३)
- स नो भग पुरएता भवेह॥ (ऋग्०- ७.४१.५)
- युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
  वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्महो देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा॥
  (यजु०- ५.१४,११.४,३७.२)
- दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
  (यजु०- ३६.१८)
- एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
  एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥
  (ऋग्०- ८.५८.२)
- शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः॥ (ऋग्०- ७.३५.१०)
- पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः॥ (ऋग्०- ६.७५.१४)
- यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (ऋग्०- ७.४१.७)
- कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (ऋग्०- १०.१२१.१)
- मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ (अथर्व०- १.१.२)
- सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि॥ (अर्थव०- १.१.४)
- वित्तं मे अस्य रोदसी॥ (ऋग्०- १.१०५.८)
- विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋग्०- १०.८६.११)
- तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
  अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।। (काठको०- २.२.११)

- नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
  अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।। (काठको०- २.२.१२)
- अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावन चोभयोः।
  अस्तीत्युपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति।। (काठको०- २.२.१)
- यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
  अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। (काठको०- २.२.१४)
- यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
  अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।। (काठको०- २.२.१५)
- तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।
  (प्रश्नो०- १.१६)
- यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं प्रतिष्ठन्ते।
  एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते।। (प्रश्नो०- ४.७)
- एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।
  स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते।। (प्रश्नो०- ४.९)
- सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
  जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥
  (ऋ०- ९.९६.५)
- एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
  दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिशिः।। (काठको०- १.३.१२)
- सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
  एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।
  काठको०- २.२.११)
- य एष सुप्तेषु जागर्ति काम कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
  तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
  तस्मिंल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत्।।
  (काठको०- २.२.८)

✦ न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृतो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।।
(काठको०- २.२.९)

✦ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।। (काठको०- २.२.१०)

✦ वसु स्पार्हं तदा भर॥ (ऋग्०- ८.४५.४०)

✦ येषामिन्द्रो युवा सखा॥ (ऋग्०- ८.४५.३)

✦ अनेहसौ व ऊतयः सुऊतयौ व ऊतयः॥ (ऋग्०- ८.४७.७)

✦ अन्ति षद्भूतु वामवः॥ (ऋग्०- ८.७३.१)

✦ अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्।
प्रेमन्धः ख्यन्निः श्रोणो भूत्॥ (ऋग्०- ८.७९.२)

✦ बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ऋग्०- २.११.२१)

✦ इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ (ऋग्०- ९.११३.९)

✦ शास इत्था महाँ असयमित्रसाहो अस्तृतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन॥ (अथर्व०- १.२०.४)

✦ वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ (ऋग्०- ७.४१.४)

✦ आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु॥ (ऋग्०- १.८९.१)

✦ व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।। (यजु०- १९.३०)

✦ ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
(ऋग्०- ४.२३.८)

✦ दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः।। (यजु०- १९.७७)

✦ उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन॥ (अथर्व०- ७.७२.१)

✦ स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥

(अथर्व०- ७.९२.१)

✦ नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ (अथर्व०- ११.२.१६)

✦ इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

(ऋग्०- २.२१.६)

✦ इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपेऽअभीरुणम्।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु॥ (यजु०- ६.१७

✦ देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि पितृकृतस्यैन
सोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनसऽएनसोऽवयजनमसि।
यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि॥

(यजु०- ८.१३)

✦ आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं
यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः
प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम॥ (यजु०- ९.२१)

✦ नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्तेऽअस्त्वर्चिषे।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥

(यजु०- १७.११)

✦ किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥

(यजु०- १७.१८)

✦ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देवऽएकः॥

(यजु०- १७.१९)

- किꣳस्विद्वनं कऽउ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
  मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्।।
  (यजु०- १७.२०)
- यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
  यो देवानां नामधाऽएकऽएव तꣳसम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।।
  (यजु०- १७.२७)
- प्रथमतन्तावृग्वेदं विन्यसामि, द्वितीयतन्तौ यजुर्वेदं विन्यसामि, तृतीयतन्तौ सामवेदं विन्यसामि, ग्रन्थावथर्वाणं विन्यसामि। प्रथमतन्तावग्निं विन्यसामि, द्वितीयतन्तौ वायुं विन्यसामि, तृतीयतन्तावादित्यं विन्यसामि, ग्रन्थावाङ्गिरसं विन्यसामि प्रथमतन्तावोङ्कारं विन्यसामि, द्वितीयतन्तौ व्याहृतिं विन्यसामि, तृतीयतन्तौ वषट्कारं विन्यसामि, ग्रन्थौ ब्रह्माणं विन्यसामि।
- स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआ द्याꣳरोहन्ति रोदसी।
  यज्ञं ये विश्वतोधारꣳसुविद्वाꣳसो वितेनिरे।। (यजु०- १७.६८)
- पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै।। (यजु०- १९.३७)
- द्वे सृतीऽअशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
  ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च।।
  (यजु०- १९.४७)
- यदि जाग्रद्यदि स्वप्नऽएनाꣳसि चकृमा वयम्।
  सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः।। (यजु०- २०.१६)
- अभ्यार्धामि समिधमग्नेर्व्रतपते त्वयि।
  व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्।। (यजु०- २०.२४)
- ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मां कुरु। यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि। एवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु। यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि। एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्।
- ओम् अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽ एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन

समिन्धे जीवपुत्रो समाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासं स्वाहा।

✦ ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।।१।।
ओम् आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।।२।।
ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।।३।।
ओम् अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्म आपृण।।४।।
ओं मेधां मे देवः सविता आदधातु।।५।।
ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु।।६।।
ओं मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ।।७।।
ओं वाक् च म आप्यायताम्।।८।।
ओं प्राणश्च म आप्यायताम्।।९।।
ओं चक्षुश्च म आप्यायताम्।।१०।।
ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम्।।११।।
ओं यशोबलञ्च म आप्यायताम्।।१२।।
ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु।
ओं मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु।
ओं मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु।
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयसाम्।
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्।।

✦ सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ (अथर्व०- ८.४.१२)

✦ अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(अथर्व०- १०.८.४४)

- सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
  त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्॥ (ऋग्०- १.११.२)
- तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥
  (ऋग्०- १.१०५.१९)
- कुवित्सोमस्यापामिति॥ (ऋग्०- १०.११९.१)
- स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्रा: कर्म लोका लोकेषु च नाम च।। (प्रश्नो०- ६.४)
- स यथेमा नद्य: स्यन्दमाना: समुद्रायमाणा: समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमा: षोडशकला: पुरुषायणा: पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोक:।। (प्रश्नो०- ६.५)
- अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिता:।
  तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्यु: परिव्यथा इति।। (प्रश्नो०- ६.६)
- तान् होवाचैतावदेवाहमेतत् परं ब्रह्म वेद नात: परमस्तीति।
  (प्रश्नो०- ६.७)
- ब्रह्मविदाप्नोति परम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
  यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
  सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। ब्रह्मणा विपश्चितेति।
  (तैत्ति०ब्रह्मा०प्रथम अनु०)
- यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।
  आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति।। (तैत्ति०ब्रह्मा०चतुर्थ अनु०)
- असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
  अस्तिब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।।
  (तैत्ति०ब्रह्मा०अ० षष्ठ अनु०)

✦ अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य ना३भायि।
यो मा ददाति स इदेव मा३ अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि।।
(तै०त्ति० भृगु०अनु० १०, म०६)

✦ प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।। (केनो० ख०२, म०४)

✦ स यदनुरुध्यते तद् भवति। यदि धर्ममनुरुध्यते तद् देवो भवति, यदि ज्ञानमनुरुध्यते तदमृतो भवति, यदि काममनुरुध्यते संच्यवते।
(निरु०अ०१४, ख०६)

✦ उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ (ऋग्०- १.२४.१५)

✦ प्र स मित्र मतौ अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥
(ऋग्०- ३.५९.२)

✦ गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधश्श्येनो जवसा निरदीयम्।।
(ऋग्०- ४.२७.१)

✦ त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।। (छान्दो०- २.२३.१)

✦ सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।
अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत।। (छान्दो०- ३.१४.१)

✦ मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः।। (छान्दो०- ३.१४.२)

✦ एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरि

क्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।। (छान्दो०- ३.१४.३)

- सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः एष म आत्मान्तर्हृदये एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः।।

(छान्दो०- ३.१४.४)

- श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति। तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति।।

(छान्दो०- ४.९.३)

- तत्सवितुर्वृणीमहे। वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमम्। तुरं भगस्य धीमहि।। (ऋग्०- ५.८२.१)
- यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः। येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति।। (छान्दो०- ६.१.२)
- सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत।। (छान्दो०- ६.२.१)
- कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳ स्यादिति होवाच-कथमसतः सज्जायेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।। (छान्दो०- ६.२.२)
- स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो! इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।। (छान्दो०- ६.१५.३)
- यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।।

(छान्दो०- ७.२३.१)

- यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं

तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति? स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति।। (छान्दो०- ७.२४.१)

- त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते।। (छान्दो०- ८.३.१)
- अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते।। (छान्दो०- ८.५.१)
- अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवाऽऽत्मानमनुविद्य मनुते।। (छान्दो०- ८.५.२)
- अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयꣳ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳ हिरण्मयम्।।

(छान्दो०- ८.५.३)

- तद्य एवैतावरं च ण्यञ्चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।। (छान्दो०- ८.५.४)
- य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच।। (छान्दो०- ८.७.१)
- स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घ-मलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कम-श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमगात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन।। (बृहदारण्य०-३.८.८)

- यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मण:।। (बृहदारण्य०- ३.८.१०)
- तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च।। (बृहदारण्य०-३.८.११)
- ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्युद्गायति। तस्योपव्याख्यानम्।।
(छान्दो०- १.१.१)
- स एष रसानाꣳ रसतम: परम: परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथ:।।
(छान्दो०- १.१.३)
- तेनोभौ कुरुतो, यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति।। (छान्दो०- १.१.१०)
- ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं, तदप्योङ्कार एव।। (माण्डू०- १)
- सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्।। (माण्डू०- २)

★★★

ऋग्वेदः

अथ प्रथमं मण्डलम्

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—१, ३-५, ७ गायत्री; २ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री; ६ निचृद्गायत्री; ८ यवमध्याविराड्गायत्री; ९ विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥१॥
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥२॥
अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्॥३॥
अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥४॥
अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत्॥५॥
यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥६॥
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥७॥
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे॥८॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥९॥

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—१-३ वायुः; ४-६ इन्द्रवायू; ७-९ मित्रावरुणौ॥ छन्दः—१, २ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री; ३-५, ७-९ गायत्री; ६ निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥१॥
वायव उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः। सुतसोमा अहर्विदः॥२॥
वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे। उरूची सोमपीतये॥३॥
इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि॥४॥

वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू। तावा यातमुप द्रवत्॥५॥
वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्। मक्ष्वित्था धिया नरा॥६॥
मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥७॥
ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं बृहन्तमाशाथे॥८॥
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम्॥९॥

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१-३, ५ विराडनुष्टुप्; ४ भुरिगुष्णिक्; ६, ८ निचृदनुष्टुप्; ७, ९-१२ अनुष्टुप्॥ स्वरः—१-३, ५-१२ गान्धारः; ४ ऋषभः॥

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥१॥
यत्सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति॥२॥
युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर॥३॥
एहि स्तोमाँ अभि स्वराभि गृणीह्या रुव।
ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय॥४॥
उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे।
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च॥५॥
तमित् संखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये।
स शक्र उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः॥६॥
सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद् यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥७॥
नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः।
जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि॥८॥

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्॥९॥
विद्मा हि त्वा वृषन्तमं वाजेषु हवनश्रुतम्।
वृषन्तमस्य हूमह ऊतिं सहस्रसातमाम्॥१०॥
आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब।
नव्यमायुः प्र सू तिर कृधी सहस्रसामृषिम॥११॥
परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः॥१२॥

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१-३, ८ निचृदनुष्टुप्; ४, ६ अनुष्टुप्; ५ भुरिगुष्णिक्; ७ विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—१-४, ६-८ गान्धारः; ५ ऋषभः॥

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्॥१॥
सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्॥२॥
पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः।
यदी वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम्॥ ३॥
पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥४॥
त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः॥५॥
तवाहं शूर रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुमावदन्।
उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः॥६॥
मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः।
विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर॥७॥

इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः॥८॥

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—अग्निर्मरुतश्च॥ छन्दः—१, ३-८ गायत्री; २ निचृद्गायत्री; ९ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि॥१॥
नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः। मरुद्भिरग्न आ गहि॥२॥
ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः। मरुद्भिरग्न आ गहि॥३॥
य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि॥४॥
ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः। मरुद्भिरग्न आ गहि॥५॥
ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते। मरुद्भिरग्न आ गहि॥६॥
य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्। मरुद्भिरग्न आ गहि॥७॥
आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि॥८॥
अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु। मरुद्भिरग्न आ गहि॥९॥

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः स कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः॥ देवता—१ प्रजापतिः; २ अग्निः; ३-५ सविता भगो वा; ६-१५ वरुणः॥ छन्दः—१, २, ६-१५ त्रिष्टुप्; ३-५ गायत्री॥ स्वरः—१, २, ६-१५ धैवतः; ३-५ षड्जः॥

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च॥१॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च॥२॥
अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम्। सदावन्भागमीमहे॥३॥
यश्चिद्धि त इत्था भगः शशमानः पुरा निदः। अद्वेषो हस्तयोर्दधे॥४॥

भगभक्तस्य ते वयमुदशेम तवावसा। मूर्धानं राय आरभे॥५॥
नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।
नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्॥६॥
अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः॥७॥
उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।
अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्॥८॥
शतं ते राजन्भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥९॥
अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥१०॥
अथ पञ्चदशो वर्गः॥१५॥
तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः॥११॥
तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ वि चष्टे।
शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु॥१२॥
शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान्॥१३॥
अव ते हेळो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः।
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि॥१४॥
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥१५॥

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—१, ४, ८, ११, १३, १५ गायत्री; २, ६, ७, ९, १० निचृद्गायत्री; ३ पादनिचृद्गायत्री; ५, १२ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री; १४ यवमध्याविराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कद्ध नूनं कधप्रियः पिता पुत्रं न हस्तयोः। दधिध्वे वृक्तबर्हिषः॥१॥
क्व नूनं कद्वो अर्थं गन्ता दिवो न पृथिव्याः। क्व वो गावो न रण्यन्ति॥२॥
क्व वः सुम्ना नव्यांसि मरुतः क्व सुविता। क्वो३ विश्वानि सौभगा॥३॥
यद्यूयं पृश्निमातरो मर्तासः स्यातन। स्तोता वो अमृतः स्यात्॥४॥
मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः। पथा यमस्य गादुप॥५॥
मो षु णः परापरा निर्ऋतिर्दुर्हणा वधीत्। पदीष्ट तृष्णया सह॥६॥
सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः। मिहं कृण्वन्त्यवाताम्॥७॥
वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति। यदेषां वृष्टिरसर्जि॥८॥
दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन। यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति॥९॥
अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम्। अरेजन्त प्र मानुषाः॥१०॥
मरुतो वीळुपाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु। यातेमखिद्रयामभिः॥११॥
स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम्। सुसंस्कृता अभीशवः॥१२॥
अच्छा वदा तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम्। अग्निं मित्रं न दर्शतम्॥१३॥
मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्य इव ततनः। गाय गायत्रमुक्थ्यम्॥१४॥
वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युमर्किणम्। अस्मे वृद्धा असन्निह॥१५॥

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—१, २, ८ निचृदुपरिष्टाद् बृहती; ३, ७ आर्चीत्रिष्टुप्; ४, ६ सतः पङ्क्तिर्निचृत्पङ्क्तिः; ५ पथ्याबृहती॥ स्वरः—१, २, ५, ८, मध्यमः;३, ७ धैवतः; ४, ६ पञ्चमः॥

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥१॥
त्वामिद्धि सहसस्पुत्र मर्त्य उपब्रूते धने हिते।
सुवीर्यं मरुत आ स्वश्व्यं दधीत यो व आचके॥२॥
प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥३॥

यो वाघते ददाति सूनरं वसु स धत्ते अक्षितिं श्रवः।
तस्मा इळां सुवीरामा यजामहे सुप्रतूर्तिमनेहसम्॥४॥
प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे॥५॥
तमिद्बोधेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद्वामा वो अश्नवत्॥६॥
को देवयन्तमश्नवज्जनं को वृक्तबर्हिषम्।
प्रप्र दाश्वान्पस्त्याभिरस्थितान्तर्वावत्क्षयं दधे॥७॥
उप क्षत्रं पृञ्चीत हन्ति राजभिर्भये चित्सुक्षितिं दधे।
नास्य वर्ता न तरुता महाधने नार्भे अस्ति वज्रिणः॥८॥

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः॥ देवता—१-३, ७-९ वरुणमित्रार्यमणः; ४-६ आदित्याः॥ छन्दः—१, ४, ५, ८ गायत्री; २, ३, ६ विराड्गायत्री; ७, ९ निचृद्गायत्री॥ स्वरः—१-९ षड्जः॥

यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा। नू चित्स दभ्यते जनः॥१॥
यं बाहुतेव पिप्रति पान्ति मर्त्यं रिषः। अरिष्टः सर्व एधते॥२॥
वि दुर्गा वि द्विषः पुरो घ्नन्ति राजान एषाम्। नयन्ति दुरिता तिरः॥३॥
सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते। नात्रावखादो अस्ति वः॥४॥
यं यज्ञं नयथा नर आदित्या ऋजुना पथा। प्र वः स धीतये नशत्॥५॥
स रत्नं मर्त्यो वसु विश्वं तोकमुत त्मना। अच्छा गच्छत्यस्तृतः॥६॥
कथा राधाम सखायः स्तोमं मित्रस्यार्यम्णः। महि प्सरो वरुणस्य॥७॥
मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम्। सुम्नैरिद्व आ विवासे॥८॥
चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधातोः। न दुरुक्तायं स्पृहयेत्॥९॥

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः॥ देवता—१, २, ४-६ रुद्रः; ३ मित्रावरुणौ ७-९ सोमः॥ छन्दः—१-४, ७, ८ गायत्री; ५ विराड्गायत्री; ६ पादनिचृद्गायत्री; ९ अनुष्टुप्॥ स्वरः—१-८ षड्जः; ९ गान्धारः॥

कद् रुद्राय प्रचेतसे मीळ्हुष्टमाय तव्यसे। वोचेम शन्तमं हृदे॥१॥
यथा नो अदितिः करत्पश्वे नृभ्यो यथा गवे। यथा तोकाय रुद्रियम्॥२॥
यथा नो मित्रो वरुणो यथा रुद्रश्चिकेतति। यथा विश्वे सजोषसः॥३॥
गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम्। तच्छंयोः सुम्नमीमहे॥४॥
यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। श्रेष्ठो देवानां वसुः॥५॥
शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्यै। नृभ्यो नारिभ्यो गवे॥६॥
अस्मे सोम श्रियमधि नि धेहि शतस्य नृणाम्। महि श्रवस्तुविनृम्णम्॥७॥
मा नः सोमपरिबाधो मारातयो जुहुरन्त। आ न इन्दो वाजे भज॥८॥
यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन्धामन्नृतस्य।
मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्तीः सोम वेदः॥९॥

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—१, ६ निचृद्-गायत्री; २, ४, ८, ९ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री; ३ गायत्री; ५ यवमध्याविराड्गायत्री; ७ विराड्गायत्री १०, ११ निचृदनुष्टुप्; १२, १३ अनुष्टुप्॥ स्वरः—१-९ षड्जः; १०-१३ गान्धारः॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥१॥
अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥२॥
अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्रयो यथा॥३॥
तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्॥४॥
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे॥॥
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥६॥
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य॥७॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षण॥८॥
अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः॥९॥
उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१०॥
उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥११॥
शुकेषु मे हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि।
अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं नि दध्मसि॥१२॥
उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम्॥१३॥

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१, ९, १० जगती; २, ५, ८ विराड्जगती; ३, ४ भुरिक्त्रिष्टुप्; ६, ७ त्रिष्टुप्; ११-१३ निचृज्जगती; १४, १५ विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१, २, ५, ८-१३ निषादः; ३, ४, ६, ७, १४, १५ धैवतः॥

अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम्।
यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषा भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत॥१॥
अभीमवन्वन्त्स्वभिष्टिमूतयोऽन्तरिक्षप्रां तविषीभिरावृतम्।
इन्द्रं दक्षास ऋभवो मदच्युतं शतक्रतुं जवनी सूनृतारुहत्॥२॥
त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽ वृणोरपोतात्रये शतदुरेषु गातुवित्।
ससेन चिद्विमदायावहो वस्वाजावद्रिं वावसानस्य नर्तयन्॥३॥
त्वमपामपिधानावृणोरपाधारयः पर्वते दानुमद्वसु।
वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिमादित्सूर्यं दिव्यारोहयो दृशे॥४॥
त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि शुसावजुह्वत।
त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ॥५॥
त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽ तिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे॥६॥

त्वे विश्वा तविषी सध्र्यग्घिता तव राद्धः सोमपीथाय हर्षते।
तव वज्रश्चिकिते बाह्वोर्हितो वृश्चा शत्रोरव विश्वानि वृष्ण्या॥७॥
वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥८॥
अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतानाभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः।
वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो वि जघान सन्दिहः॥९॥
तक्षद्यत्त उशना सहसा सहो वि रोदसी मज्मना बाधते शवः।
आ त्वा वातस्य नृमणो मनोयुज आ पूर्यमाणमवहन्नभि श्रवः॥१०॥
मन्दिष्ट यदुशने काव्ये सचाँ इन्द्रो वङ्कू वङ्कुतराधि तिष्ठति।
उग्रो यियिं निरपः स्रोतसासृजद्वि शुष्णस्य दृंहिता ऐरयत्पुरः॥११॥
आ स्मा रथं वृषपाणेषु तिष्ठसि शार्यातस्य प्रभृता येषु मन्दसे।
इन्द्र यथा सुतसोमेषु चाकनोऽनर्वाणं श्लोकमा रोहसे दिवि॥१२॥
अददा अभी महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या॥१३॥
इन्द्रो अश्रायि सुध्यो निरेके पज्रेषु स्तोमो दुर्यो न यूपः।
अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुरिन्द्र इद्रायः क्षयति प्रयन्ता॥१४॥
इदं नमो वृषभाय स्वराजे सत्यशुष्माय तवसेऽवाचि।
अस्मिन्निन्द्र वृजने सर्ववीराः स्मत्सूरिभिस्तव शर्मन्त्स्याम॥१५॥

[८०] अशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१, ११ निचृदास्तारपङ्क्तिः; २-४, ७, १२, १५ भुरिग्बृहती; ५, ६, ९, १०, १३, १४ विराट्पङ्क्तिः; ८, १६ बृहती॥ स्वरः—१, ५, ६, ९-११, १३, १४ पञ्चमः; २-४, ७, ८, १२, १५, १६ मध्यमः॥

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥१॥
स त्वामदद् वृषा मदः सोमः श्येनाभृतः सुतः।
येना वृत्रं निरद्भ्यो जघन्थ वज्रिन्नोजसार्चन्ननु स्वराज्यम्॥२॥

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥३॥
निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥४॥
इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः।
अभिक्रम्याव जिघ्नतेऽपः समीय चोदयन्नर्चन्ननु स्वराज्यम्॥५॥
अधि सानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा।
मन्दान इन्द्रो अन्धसः सखिभ्यो गातुमिच्छत्यर्चन्ननु स्वराज्यम्॥६॥
इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन्वीर्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥७॥
वि ते वज्रासो अस्थिरन्नवतिं नाव्या अनु।
महत्त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हितमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥८॥
सहस्रं साकमर्चत परि ष्टोभत विंशतिः।
शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥९॥
इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निरहन्त्सहसा सहः।
महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वाँ असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम्॥१०॥
इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही।
यदिन्द्र वज्रिन्नोजसा वृत्रं मरुत्वाँ अवधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥११॥
न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बीभयत्।
अभ्येनं वज्र आयसः सहस्रभृष्टिरायतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥१२॥
यद् वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः।
अहिमिन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्बधे शवोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥१३॥
अभिष्टने ते अद्रिवो यत्स्था जगच्च रेजते।
त्वष्टा चित्तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भियार्चन्ननु स्वराज्यम्॥१४॥
नहि नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्या परः।
तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि सं दधुरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥१५॥
यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥१६॥

[८९] एकोननवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—१, ५ निचृज्जगती; २, ३, ७ जगती; ४ भुरिक्त्रिष्टुप्; ६ स्वराड्बृहती; ८ विराट्त्रिष्टुप्; ९, १० त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१-३, ५, ७ निषादः; ४, ८-१० धैवतः; ६ मध्यमः॥

आ नो॑ भ॒द्राः क्रत॑वो यन्तु वि॒श्वतोऽ॑ दब्धासो॒ अप॑रीतास उ॒द्भिद॑ः।
दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद् वृ॒धे अस॒न्नप्रा॑युवो रक्षि॒तारो॑ दि॒वेदि॑वे॥१॥
दे॒वाना॑ भ॒द्रा सु॑म॒तिर्ऋ॑जूय॒तां दे॒वाना॑ रा॒तिर॒भि नो॒ नि व॑र्तताम्।
दे॒वाना॑ स॒ख्यमुप॑ सेदिमा व॒यं दे॒वा न॒ आयुः॒ प्र ति॑रन्तु जी॒वसे॑॥२॥
तान्पू॒र्वया॑ नि॒विदा॑ हूमहे व॒यं भगं॑ मि॒त्रमदि॑ति॒ दक्ष॑म॒स्रिध॑म्।
अ॒र्य॒मणं॒ वरु॑णं॒ सोम॑म॒श्विना॒ सर॑स्वती नः॒ सु॒भगा॒ मय॑स्करत्॥३॥
तन्नो॒ वातो॑ मयो॒भु वा॑तु भेष॒जं तन्मा॒ता पृ॑थि॒वी तत्पि॒ता द्यौः।
तद् ग्रावा॑णः सोम॒सुतो॑ मयो॒भुव॒स्तद॑श्विना शृणुतं धिष्ण्या यु॒वम्॥४॥
तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पति॑ धियंजि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।
पूषा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥५॥
स्व॒स्ति न॒ इन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः स्व॒स्ति न॑ः पूषा वि॒श्ववे॑दाः।
स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॑ अरि॑ष्टनेमिः स्व॒स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु॥६॥
पृष॑दश्वा म॒रुत॒ः पृश्नि॑मातरः शुभं॒याव॑नो वि॒दथे॑षु जग्मयः।
अ॒ग्नि॒जि॒ह्वा मन॑व॒ः सूर॑चक्षसो॒ विश्वे॑ नो॒ देवा॒ अव॒सा ग॑मन्नि॒ह॥७॥
भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॑र्यजत्राः।
स्थि॒रैर॑ङ्गै॒स्तुष्टु॑वांस॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेम दे॒वहि॑तं॒ यदायु॑॥८॥
श॒तमिन्नु श॒रदो॒ अन्ति॑ देवा॒ यत्रा॑ नश्च॒क्रा ज॒रस॑ं त॒नूना॑म्।
पु॒त्रासो॒ यत्र॑ पि॒तरो॒ भव॑न्ति॒ मा नो॑ म॒ध्या री॑रिष॒तायु॒र्गन्तो॑ः॥९॥
अदि॑ति॒र्द्यौर॑दि॑ति॒र॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑ति॒र्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑ति॒ः पञ्च॒ जना॒ अदि॑ति॒र्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम्॥१०॥

[९०] नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—१, ८ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री; २, ७ गायत्री; ३ पिपीलिकामध्याविराड्गायत्री; ४ विराड्गायत्री; ५, ६ निचृद्गायत्री; ९ निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—१-८ षड्जः; ९ गान्धार॥

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः॥१॥
ते हि वस्वो वसवानास्ते अप्रमूरा महोभिः। व्रता रक्षन्ते विश्वाहा॥२॥
ते अस्मभ्यं शर्म यंसन्नमृता मर्त्येभ्यः। बाधमाना अप द्विषः॥३॥
वि नः पथः सुवितायं चियन्त्विन्द्रो मरुतः। पूषा भगो वन्द्यासः॥४॥
उत नो धियो गोअग्राः पूषन्विष्णवेवयावः। कर्ता नः स्वस्तिमतः॥५॥
मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥६॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥७॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥८॥
शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥९॥

[९१] एकनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—१, ३, ४ स्वराट्-पङ्क्तिः; २ पङ्क्तिः; ५ पादनिचृद्गायत्री; ६, ८, ९, ११ निचृद्गायत्री; ७ वर्धमानागायत्री; १०, १२ गायत्री; १३, १४ विराड्गायत्री; १५, १६ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री; १७ परोष्णिक्; १८, २० भुरिक्-पङ्क्तिः; २२ विराट्पङ्क्तिः; १९, २१, २३ निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१-४, १८, २०, २२ पञ्चमः; ५-१६ षड्जः; १७ ऋषभः; १९, २१, २३ धैवतः॥

त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः॥१॥
त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूस्त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः।
त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षाः॥२॥

राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि बृहद् गभीरं तव सोम धाम।
शुचिष्टमसि प्रियो न मित्रो दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम॥३॥
या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेळन्राजन्त्सोम प्रति हव्या गृभाय॥४॥
त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा। त्वं भद्रो असि क्रतुः॥५॥
त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे। प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः॥६॥
त्वं सोम महे भगं त्वं यून ऋतायते। दक्षं दधासि जीवसे॥७॥
त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः। न रिष्येत्त्वावतः सखा॥८॥
सोम यास्ते मयोभुव ऊतयः सन्ति दाशुषे। ताभिर्नोऽविता भव॥९॥
इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि। सोम त्वं नो वृधे भव॥१०॥
सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः। सुमृळीको न आ विश॥११॥
गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः। सुमित्रः सोम नो भव॥१२॥
सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा। मर्यइव स्व ओक्ये॥१३॥
यः सोम सख्ये तव रारणद्देव मर्त्यः। तं दक्षः सचते कविः॥१४॥
उरुष्या णो अभिशस्तेः सोम नि पाह्यंहसः। सखा सुशेव एधि नः॥१५॥
आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे॥१६॥
आ प्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरंशुभिः।
भवा नः सुश्रवस्तमः सखा वृधे॥१७॥
सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व॥१८॥
या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान्॥१९॥
सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै॥२०॥
अषाळ्हं युत्सु पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्।
भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम॥२१॥

त्वमि॒मा ओष॑धीः सोम॒ विश्वा॒स्त्वम॒पो अ॑जनय॒स्त्वं गाः।
त्वमा त॑तन्थो॒र्व१॑न्तरि॑क्षं॒ त्वं ज्योति॑षा॒ वि तमो॑ ववर्थ॥ २२॥
दे॒वेन॑ नो॒ मन॑सा देव सोम रा॒यो भा॒गं स॑हसावन्न॒भि यु॑ध्य।
मा त्वा त॑न॒दीशि॑षे वी॒र्य॑स्यो॒भये॑भ्यः॒ प्र चि॑कित्सा॒ गवि॑ष्टौ॥ २३॥

[९७] सप्तनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—१, ७, ८ पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री; २, ४, ५ गायत्री; ३, ६ निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अप॑ नः शोशुचद॒घमग्ने॑ शुशुग्ध्या र॒यिम्। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥ १॥
सु॒क्षे॒त्रिया सु॑गातु॒या व॑सू॒या च॑ यजामहे। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥ २॥
प्र यद्भन्दि॑ष्ठ ए॒षा प्रास्माका॑सश्च सू॒रयः॑। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥ ३॥
प्र यत्ते॑ अग्ने सू॒रयो॒ जाय॑मह्नि॒ प्र ते॑ व॒यम्। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥ ४॥
प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥ ५॥
त्वं हि वि॑श्वतोमुख वि॒श्वतः॑ परि॒भूर॑सि। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥ ६॥
द्विषो॑ नो विश्वतोमु॒खाति॑ ना॒वेव॑ पारय। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥ ७॥
स नः॑ सिन्धु॑मिव ना॒वयाति॑ पर्षा स्व॒स्तये॑। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥ ८॥

[१०५] पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—आप्त्यस्त्रित आङ्गिरसः कुत्सो वा॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—१, २, १२, १६, १७ निचृत्पङ्क्तिः; ३, ४, ६, ९, १५,१८ विराट्पङ्क्तिः; ५ निचृद्बृहती; ७ भुरिग्बृहती; ८, १० स्वराट्-पङ्क्तिः; ११, १४ पङ्क्तिः; १३ महाबृहती; १९ निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१-४, ६, ८-१२, १४-१८ पञ्चमः; ५, ७, १३ मध्यमः; १९ धैवतः॥

च॒न्द्रमा॑ अ॒प्स्व१॑न्तरा सु॑प॒र्णो धा॑वते दि॒वि।
न वो॑ हिरण्यनेमयः प॒दं वि॑न्दन्ति विद्युतो वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रो॑दसी॥ १॥
अर्थ॑मिद्वा उ॒ अ॒र्थिन॒ आ जा॒या यु॑वते॒ पति॑म्।
तु॒ञ्जाते॒ वृष्ण्यं॒ पयः॑ परि॒दाय॒ रसं॑ दुहे वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रो॑दसी॥ २॥

मो षु देवा अदः स्व१रव पादि दिवस्परि।
मा सोम्यस्य शंभुवः शूने भूम कदा चन वित्तं मे अस्य रोदसी॥३॥
यज्ञं पृच्छाम्यवमं स तद् दूतो वि वोचति।
क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी॥४॥
अमी ये देवाः स्थन त्रिष्वा रोचने दिवः।
कद्व ऋतं कदनृतं क्व प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं मे अस्य रोदसी॥५॥
कद्व ऋतस्य धर्णसि कद्वरुणस्य चक्षणम्।
कदर्यम्णो महस्पथाति क्रामेम दूढ्यो वित्तं मे अस्य रोदसी॥६॥
अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित्।
तं मा व्यन्त्याध्योऽ३ वृको न तृष्णजं मृगं वित्तं मे अस्य रोदसी॥७॥
सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥८॥
अमी ये सप्त रश्मयस्तत्रा मे नाभिरातता।
त्रितस्तद्वेदाप्त्यः स जामित्वाय रेभति वित्तं मे अस्य रोदसी॥९॥
अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः।
देवत्रा नु प्रवाच्यं सध्रीचीना नि वावृतुर्वित्तं मे अस्य रोदसी॥१०॥
सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः।
ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी॥११॥
नव्यं तदुक्थ्यं हितं देवासः सुप्रवाचनम्।
ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो वित्तं मे अस्य रोदसी॥१२॥
अग्ने तव त्यदुक्थ्यं देवेष्वस्त्याप्यम्।
स नः सत्तो मनुष्वदा देवान्यक्षि विदुष्टरो वित्तं मे अस्य रोदसी॥१३॥
सत्तो होता मनुष्वदा देवाँ अच्छा विदुष्टरः।
अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरो वित्तं मे अस्य रोदसी॥१४॥
ब्रह्मा कृणोति वरुणो गातुविदं तमीमहे।
व्यूर्णोति हृदा मतिं नव्यो जायतामृतं वित्तं मे अस्य रोदसी॥१५॥

असौ यः पन्था आदित्यो दिवि प्रवाच्यं कृतः।
न स देवा अतिक्रमे तं मर्तासो न पश्यथ वित्तं मे अस्य रोदसी॥१६॥
त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी॥१७॥
अरुणो मा सकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी॥१८॥
एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तोऽभि ष्याम वृजने सर्ववीराः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥१९॥

[१०६] षडुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—१-६ जगती; ७ निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१-६ निषादः; ७ धैवतः॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये मारुतं शर्धो अदितिं हवामहे।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ १॥
त आदित्या आ गता सर्वतातये भूत देवा वृत्रतूर्येषु शंभुवः।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ २॥
अर्वन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ३॥
नराशंसं वाजिनं वाजयन्निह क्षयद्वीरं पूषणं सुम्नैरीमहे।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ४॥
बृहस्पते सदमिन्नः सुगं कृधि शं योर्यत्ते मनुर्हितं तदीमहे।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ५॥
इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निबाळ्ह ऋषिरह्वदूतये।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ६॥
देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ७॥

★ ★ ★

अथ दशमं मण्डलम्

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—आङ्गिरसः सप्तगुः॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः॥ छन्दः—१, ४,७ त्रिष्टुप्; २ आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्; ३ भुरिक्त्रिष्टुप्; ५, ६, ८ निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥१॥
स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥२॥
सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र ।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥३॥
सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम्।
दस्युहनं पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥४॥
अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।
भद्रब्रातं विप्रवीरं स्वर्षामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥५॥
प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।
य आङ्गिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥६॥
वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥७॥
यत्त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम्।
अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥८॥

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः॥ छन्दः—१, ३ पाद-निचृज्जगती; २, ८ जगती; ४ निचृज्जगती; ५ विराड्जगती; ६, ९ आर्चीस्वराड्जगती; ७ विराट्त्रिष्टुप्; १०, ११ त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१-६, ८, ९ निषादः; ७, १०, ११ धैवतः॥

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्॥१॥
अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन्दधीचे मातरिश्वने॥२॥
मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम्।
ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरं मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च॥३॥
अहमेतं गव्ययमश्व्यं पशुं पुरीषिणं सार्यकेना हिरण्यम्।
पुरू सहस्रा नि शिशामि दाशुषे यन्मा सोमास उक्थिनो अमन्दिषुः॥४॥
अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥५॥
अहमेताञ्छाश्वसतो द्वाद्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत।
आह्वयमानाँ अव हन्मनाहनं दृळ्हा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः॥६॥
अभीदेमेकमेकोऽस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥७॥
अहं गुङ्गुभ्यो अतिथिग्वमिष्करमिषं न वृत्रतुरं विक्षु धारयम्।
यत्पर्णयघ्न उत वा करञ्जहे प्राहं महे वृत्रहत्ये अशुश्रवि॥८॥
प्र मे नमी साप्य इषे भुजे भूद्ववामेषे सख्या कृणुत द्विता।
दिद्युं यदस्य समिथेषु मंहयमादिदेनं शंस्यमुक्थ्यं करम्॥९॥
प्र नेमस्मिन्ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति।
स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन्द्रुहस्तस्थौ बहुले बद्धो अन्तः॥१०॥
आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमर्षाळ्हम्॥११॥

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः॥ छन्दः—१ आर्ची-भुरिग्जगती; २ विराट्त्रिष्टुप्; ३, ९ विराड्जगती; ४ जगती; ५, ६, ८ निचृज्जगती; ७

आर्चीस्वराड्जगती; १० पादनिचृज्जगती; ११ आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१, ३-१० निषादः; २, ११ धैवतः॥

अहं दाँ गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहं भुवं यजमानस्य चोदितार्यज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे॥१॥
मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः।
अहं हरी वृषणा विव्रता रघू अहं वज्रं शवसे धृष्वा ददे॥२॥
अहमत्कं कवयेऽशिश्नथं हथैरहं कुत्समावमाभिरूतिभिः।
अहं शुष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो ररार्य नाम दस्यवे॥३॥
अहं पितेव वेतसूँरभिष्टये तुग्रं कुत्साय स्मदिभं च रन्धयम्।
अहं भुवं यजमानस्य राजनि प्र यद्भरे तुजये न प्रियाधृषे॥४॥
अहं रन्धयं मृगयं श्रुतर्वणे यन्माजिहीत वयुना चनानुषक्।
अहं वेशं नम्रमायवेऽकरमहं सव्याय पड्गृभिमरन्धयम्॥५॥
अहं स यो नववास्त्वं बृहद्रथं सं वृत्रेव दासं वृत्रहारुजम्।
यद्वर्धयन्तं प्रथयन्तमानुषग्दूरे पारे रजसो रोचनाकरम्॥६॥
अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक्कृषे दासं कृत्व्यं हथैः॥७॥
अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम्।
अहं न्यन्यं सहसा सहस्करं नव व्राधतो नवतिं च वक्षयम्॥८॥
अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्नवः पृथिव्यां सीरा अधि।
अहमर्णांसि वि तिरामि सुक्रतुर्युधा विदं मनवे गातुमिष्टये॥९॥
अहं तदासु धारयं यदासु न देवश्चन त्वष्टाधारयद्रुशत्।
स्पार्हं गवामूधःसु वक्षणास्वा मधोर्मधु श्वात्र्यं सोममाशिरम्॥१०॥
एवा देवाँ इन्द्रौ विव्ये नॄन्प्र च्यौत्नेन मघवा सत्यराधाः।
विश्वेत्ता ते हरिवः शचीवोऽभि तुरासः स्वयशो गृणन्ति॥११॥

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायनाः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—१ गायत्री; २-६ निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः। मान्तः स्थुर्नो अरातयः॥१॥
यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि॥२॥
मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन। पितॄणां च मन्मभिः॥३॥
आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥४॥
पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं सचेमहि॥५॥
वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि॥६॥

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः॥ देवता—मन आवर्त्तनम्॥ छन्दः— निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥१॥
यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥२॥
यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥३॥
यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥४॥
यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥५॥
यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥६॥
यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥७॥
यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥८॥
यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥९॥
यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥१०॥
यत्ते परः परावतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥११॥
यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥१२॥

[६३] त्रिषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—गयः प्लातः॥ देवता—१-१४, १७ विश्वे देवाः; १५, १६ पथ्या-स्वस्तिः॥ छन्दः—१, ६, ८, ११-१३ विराड्जगती; २, ३, १०, १४ पादनिचृज्जगती; ४, ५, ७ निचृज्जगती; ९ आर्चीस्वराड्जगती; १५ जगती त्रिष्टुप् वा; १६ आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्; १७ पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१-१४ निषादः; १५ निषादो धैवतो वा; १६, १७ धैवतः॥

परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः।
ययातेर्ये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुवन्तु नः॥१॥
विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरबुध्न्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥२॥
येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान्वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥३॥
नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥४॥
सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥५॥
को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये॥६॥
येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥७॥
य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥८॥
भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेंऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये॥९॥
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥१०॥

विश्वे॑ यजत्रा॒ अधि॑ वोचतो॒तये॒ त्राय॑ध्वं नो दुरे॒वाया॑ अभि॒ह्रुतः॑।
स॒त्यया॑ वो दे॒वहू॑त्या हुवेम शृ॒ण्व॒तो दे॑वा॒ अव॑से स्व॒स्तये॑॥११॥
अपामी॑वा॒मप॒ विश्वा॒मना॑हुति॒मपा॑रातिं दुर्वि॒दत्रा॑मघाय॒तः॑।
आरे दे॑वा॒ द्वेषो॑ अ॒स्मद्यु॑योतनो॒रु णः॒ शर्म॑ यच्छता स्व॒स्तये॑॥१२॥
अरि॑ष्टः स मर्तो॑ विश्व॑ एधते॒ प्र प्र॒जाभि॑र्जायते॒ धर्म॑ण॒स्परि॑।
यमा॑दित्यासो॒ नय॑था सु॒नी॒ति॒भि॒र॒ति॒ विश्वा॑नि दुरि॒ता स्व॒स्तये॑॥१३॥
यं दे॑वा॒सोऽव॑थ वाज॒सातौ॑ यं शूर॒साता॑ मरुतो हि॒ते धने॑।
प्रा॒त॒र्यावा॑णं॒ रथ॑मिन्द्र सा॒न॒सिमरि॑ष्यन्त॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑॥१४॥
स्व॒स्ति न॑: प॒थ्या॑सु धन्व॑सु स्व॒स्त्य॑प्सु वृ॒ज॒ने॒ स्व॑र्वति।
स्व॒स्ति न॑: पुत्रकृ॒थेषु॒ योनि॑षु स्व॒स्ति रा॒ये म॑रुतो दधातन॥१५॥
स्व॒स्तिरिद्धि प्रप॑थे श्रे॒ष्ठा रे॒क्ण॑स्वत्य॒भि या वा॒ममे॑ति।
सा नो॑ अ॒मा सो अर॑णे॒ नि पा॑तु स्वावे॒शा भ॑वतु दे॒वगो॑पा॥१६॥
ए॒वा प्ल॒तेः सू॒नुर॑वीवृधद्वो॒ विश्व॑ आदित्या अदिते मनी॒षी।
ई॒शा॒नासो॒ नरो॒ अम॑र्त्ये॒नास्ता॑वि॒ जनो॑ दि॒व्यो गये॑न॥१७॥

[७१] एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—आङ्गिरसो बृहस्पतिः॥ देवता—ज्ञानम्॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप्; २ भुरिक्त्रिष्टुप्; ३, ७ निचृत्त्रिष्टुप्; ४ पादनिचृत्त्रिष्टुप्;५, ६, ८, १०, ११ विराट्त्रिष्टुप्; ९ विराड्जगती॥ स्वरः—१-८, १०, ११ धैवतः; ९ निषादः॥

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अ॒ग्रं॒ यत्प्रैर॑त नाम॒धेय॑ं दधा॒नाः।
यदे॑षां॒ श्रेष्ठं॑ यद॑रि॒प्रमासी॑त्प्रे॒णा तदे॑षां॒ निहि॑तं गुहा॒विः॥१॥
सक्तु॑मिव॒ तित॑उना पुनन्तो॒ यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा॒ वाच॒मक्र॑त।
अत्रा॒ सखा॑यः स॒ख्यानि॑ जानते भ॒द्रैषां॑ ल॒क्ष्मीर्नि॑हि॒ताधि॑ वा॒चि॥२॥
य॒ज्ञेन॑ वा॒चः प॑द॒वीय॑माय॒न्तामन्व॑विन्द॒न्नृषि॑षु प्रवि॑ष्टाम्।
तामा॒भृत्या॒ व्य॑दधुः पुरु॒त्रा तां स॒प्त रे॒भा अ॒भि सं न॑वन्ते॥३॥
उ॒त त्व॒: पश्य॒न्न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्व॑: शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्येनाम्।
उ॒तो त्व॑स्मै त॒न्व॑१॒॑ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑ उशती सुवा॒साः॥४॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति मायया॒ष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥५॥
यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥६॥
अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥७॥
ह्रदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥८॥
इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥९॥
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥१०॥
ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥११॥

[८१] एकाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः॥ देवता—विश्वकर्मा॥ छन्दः—१, ५, ६

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥ १॥
किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ २॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः॥ ३॥
किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥ ४॥
या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥ ५॥

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥ ६॥
वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥ ७॥

[८२] द्व्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः॥ देवता—विश्वकर्मा॥ छन्दः—१, ५, ६ त्रिष्टुप्; २, ४ भुरिक्त्रिष्टुप्; ३ निचृत्त्रिष्टुप्; ७ पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम्॥ १॥
विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः॥ २॥
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ ३॥
त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि॥ ४॥
परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥ ५॥
तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥ ६॥
न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥ ७॥

[८३] त्र्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—मन्युस्तापसः॥ देवता—मन्युः॥ छन्दः—१ विराड्जगती;२ त्रिष्टुप्; ३, ६ विराट्त्रिष्टुप्; ४ पादनिचृत्त्रिष्टुप्; ५, ७ निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१ निषादः; २-७ धैवतः॥

यस्ते॑ मन्योऽविधद्वज्र सायक॒ सह॒ ओज॑: पुष्यति॒ विश्व॑मानुषक्।
साह्याम॒ दास॒मार्यं॑ त्वया॑ यु॒जा सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता॥ १॥
म॒न्युरिन्द्रो॑ म॒न्युरे॒वास॑ दे॒वो म॒न्युर्होता॒ वरु॑णो जा॒तवे॑दाः।
म॒न्युं विश॑ ईळते मानु॒षीर्या॑: पा॒हि नो॑ मन्यो॒ तप॑सा स॒जोषा॑:॥ २॥
अ॒भीहि॑ मन्यो॒ त॒वस॒स्तवी॑या॒न्तप॑सा यु॒जा वि ज॑हि॒ शत्रू॑न्।
अ॒मि॒त्रहा॑ वृ॒त्रहा॑ दस्यु॒हा च॒ वि॒श्वा॒ वसू॒न्या भ॑रा॒ त्वं न॑:॥ ३॥
त्वं हि म॑न्यो अ॒भिभू॑त्योजा: स्वय॒ंभूर्भामो॑ अभिमातिषा॒ह:।
वि॒श्वच॑र्षणि॒: सहु॑रि॒: सहा॑वा॒नस्मास्वोज॒: पृत॑नासु धेहि॥ ४॥
अ॒भा॒ग: सन्नप॒ परे॑तो अस्मि॒ तव॒ क्रत्वा॑ तवि॒षस्य॑ प्रचेत:।
तं त्वा॑ मन्यो अक्रतु॒र्जिही॑ळा॒हं स्वा त॒नूर्बल॒देया॑य मेहि॑॥ ५॥
अ॒यं ते॑ अ॒स्म्युप॒ मेह्यर्वाङ् प्र॑तीची॒न: स॑हुरे विश्वधाय:।
मन्यो॑ वज्रिन्नभि मामा ववृत्स्व॒ हना॑व॒ दस्यूँ॑रु॒त बो॑ध्या॒पे:॥ ६॥
अ॒भि प्रेहि॑ दक्षिण॒तो भ॑वा॒ मेऽधा॑ वृ॒त्राणि॑ जङ्घनाव॒ भूरि॑।
जु॒होमि॑ ते ध॒रुणं॑ मध्व॒ो अग्र॑मु॒भा उ॑पां॒शु प्र॑थ॒मा पि॑बाव॥ ७॥

[८८] अष्टाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ॥ छन्दः— १-४, ७, १५, १९ विराट्त्रिष्टुप्; ५, ८ त्रिष्टुप्; ६, ९-१४, १६, १७ निचृत्त्रिष्टुप्; १८ आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ह॒विष्पान्त॑म॒जरं॑ स्व॒र्विदं॑ दि॒वि॒स्पृश्याहु॑तं जुष्ट॒म॒ग्नौ।
तस्य॒ भर्मं॑णे॒ भुव॑नाय दे॒वा धर्मं॑णे॒ कं स्व॒धया॑ पप्रथन्त॥१॥
गी॒र्णं भुव॑नं॒ तम॒सापगू॑ळ्हमा॒वि: स्व॑रभवज्जा॒ते अ॒ग्नौ।
तस्य॑ दे॒वा: पृ॑थि॒वी द्यौरु॒तापोऽर॑णय॒न्नोष॑धी: स॒ख्ये अ॑स्य ॥२॥
दे॒वेभि॒र्न्विं॑षितो य॒ज्ञिये॑भि॒रग्निं स्तौषाण्यजरं॑ बृ॒हन्त॑म्।
यो भा॒नुना॑ पृथि॒वीं द्यामु॒तेमामा॑त॒तान॒ रोद॑सी अ॒न्तरि॑क्षम्॥३॥
यो होतासी॑त्प्रथ॒मो दे॒वजु॑ष्टो॒ यं स॒माञ्ज॒न्नाज्ये॑ना वृणा॒नाः।
स प॑त॒त्रीत्व॒रं स्था जग॒द्यच्छ्वा॒त्रम॒ग्निर॑कृणोज्जा॒तवे॑दाः॥४॥

यज्जातवेदो भुवनस्य मूर्धन्नतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन।
तं त्वाहेम मतिभिर्गीर्भिरुक्थैः स यज्ञियो अभवो रोदसिप्राः॥५॥
मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥६॥
दृशेन्यो यो महिना समिद्धोऽरोचत दिवियोनिर्विभावा।
तस्मिन्नग्नौ सूक्तवाकेन देवा हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः॥७॥
सूक्तवाकं प्रथममादिदग्निमादिद्धविरजनयन्त देवाः।
स एषां यज्ञो अभवत्तनूपास्तं द्यौर्वेद तं पृथिवी तमापः॥८॥
यं देवासोऽजनयन्ताग्निं यस्मिन्नाजुहवुर्भुवनानि विश्वा।
सो अर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा॥९॥
स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वन्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥१०॥
यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा॥११॥
विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन्॥१२॥
वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नममिनच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम्॥१३॥
वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः।
यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात्॥१४॥
द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥१५॥
द्वे समीची बिभृतश्चरन्तं शीर्षतो जातं मनसा विमृष्टम्।
स प्रत्यङ्विश्वा भुवनानि तस्थावप्रयुच्छन्तरणिर्भ्राजमानः॥१६॥
यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।
आ शेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्॥१७॥
कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्॥१८॥

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्योऽ३ वसते मातरिश्वः।
तावदधात्युप यज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन्॥१९॥

[१०३] त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—१-३, ५-११ इन्द्रः; ४ बृहस्पतिः; १२ अप्वा; १३ इन्द्रो मरुतो वा॥ छन्दः—१, ३-५, ९, त्रिष्टुप्; २ स्वराट्-त्रिष्टुप्; ६ भुरिक्त्रिष्टुप्; ७, ११ निचृत्त्रिष्टुप्;८, १०, १२ विराट्त्रिष्टुप्; १३ विराडनुष्टुप्॥स्वरः—१-१२ धैवतः; १३ गान्धारः॥

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः॥१॥
संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥२॥
स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥३॥
बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्॥४॥
बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित्॥५॥
गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।
इमं सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्॥६॥
अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाळयुध्योऽ३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु॥७॥
इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥८॥
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥९॥

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद् वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥१०॥
अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु॥११॥
अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥१२॥
प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥१३॥

[१०७] सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा॥ छन्दः—१, ५, ७ त्रिष्टुप्; २, ३, ६, ९, ११ निचृत्त्रिष्टुप्; ४ निचृज्जगती; ८, १० पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१-३, ५-११ धैवतः; ४ निषादः॥

आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥१॥
उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः॥२॥
दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या न कवारिभ्यो नहि ते पृणन्ति।
अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति॥३॥
शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते हविः।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति संगमे ते दक्षिणां दुहेत सप्तमातरम्॥४॥
दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय॥५॥
तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध॥६॥
दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥७॥

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत्सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति॥८॥
भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं१ या सुवासाः।
भोजा जिग्युरन्तःपेयं सुरायां भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति॥९॥
भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या३ शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥१०॥
भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः।
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता॥११॥

[१०८] अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—१, ३, ५, ७, ९ पणयोऽसुराः; २, ४, ६, ८, १०, ११ सरमा देवशुनी॥ देवता—१, ३, ५, ७, ९ सरमा; २, ४, ६, ८, १०, ११ पणयः॥ छन्दः—१ विराट्त्रिष्टुप्; २, १० त्रिष्टुप्; ३, ४, ५, ७, ८, ९, ११ निचृत्त्रिष्टुप्; ६ पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः परावैः।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि॥१॥
इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि महः इच्छन्ती पणयो निधीन्वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि॥२॥
कीदृङ्डिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति॥३॥
नाहं तं वेद दभ्यं दभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे॥४॥
इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान्त्सुभगे पतन्ती।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा॥५॥
असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥६॥

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिन्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ॥७॥
एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित्॥८॥
एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम॥९॥
नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥१०॥
दूरमित पणयो वरीयु उद्वावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः॥११

[११९] एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—लब ऐन्द्रः॥ देवता—आत्मस्तुतिः॥ छन्दः—१-५, ७-१० गायत्री; ६, १२, १३ निचृद्गायत्री; ११ विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति। कुवित्सोमस्यापामिति॥ १॥
प्र वाता इव दोधत उन्मा पीता अयंसत। कुवित्सोमस्यापामिति॥ २॥
उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ३॥
उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम्। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ४॥
अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ५॥
नहि मे अक्षिपच्चनाच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ६॥
नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ७॥
अभि द्यां महिना भुवमभी३मां पृथिवीं महीम्। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ८॥
हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ९॥
ओषमित्पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा। कुवित्सोमस्यापामिति॥ १०॥
दिवि मे अन्यः पक्षो३ऽधो अन्यमचीकृषम्। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ११॥
अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः। कुवित्सोमस्यापामिति॥ १२॥
गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः। कुवित्सोमस्यापामिति॥ १३॥

[१२०] विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१ आर्चीस्वराट्-त्रिष्टुप्; २, ३, ६ पादनिचृत्त्रिष्टुप्; ४, ५, ९ निचृत्त्रिष्टुप्; ७, ८ विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

तदिदा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यं वि॒श्वे म॒दन्त्यू॒माः॥ १॥
वा॒वृ॒धा॒नः शव॑सा॒ भूयो॑जाः॒ शत्रु॑र्दा॒सायं॒ भि॒यसं॑ दधाति।
अव्य॑नच्च॒ व्यन॑च्च॒ सस्नि॒ सं तै॑ नवन्त॒ प्रभृ॑ता॒ मदे॑षु॥ २॥
त्वे क्रतु॒मपि॑ वृञ्जन्ति॒ विश्वे॒ द्विर्यदे॑ते॒ त्रिर्भ॑वन्त्यू॒माः।
स्वा॒दोः स्वादी॑यः स्वा॒दुना॑ सृजा॒ सम॒दः सु मधु॒ मधु॑ना॒भि यो॑धीः॥ ३॥
इति॑ चि॒द्धि त्वा॒ धना॒ जय॑न्तं॒ मदे॑मदे अनु॒मद॑न्ति॒ विप्राः।
ओजी॑यो धृष्णो स्थि॒रमा त॑नुष्व॒ मा त्वा॑ दभन्यातु॒धाना॑ दु॒रेवाः॥ ४॥
त्वया॑ व॒यं शा॑शद्महे॒ रणे॑षु॒ प्रप॑श्यन्तो युधे॒न्या॑नि॒ भूरि॑।
चो॒दया॑मि॒ त॒ आयु॑धा॒ वचो॑भिः॒ सं ते॑ शिशामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वया॑ंसि॥ ५॥
स्तु॒षेय्यं॑ पुरु॒वर्प॑स॒मृभ्व॑मि॒नत॑ममा॒प्त्यमा॒प्त्याना॑म्।
आ द॑र्षति॒ शव॑सा॒ सस॒ दानू॒न्प्र सा॑क्षते प्रति॒मानो॑नि॒ भूरि॑॥ ६॥
नि तद्दधि॒षेऽव॑रं॒ परं॑ च॒ यस्मि॒न्नावि॒थाव॑सा दु॒रोणे॑।
आ मा॒तरा॑ स्थापयसे जिग॒त्नू अत॑ इनोषि॒ कर्वं॑रा पुरू॒णि॥ ७॥
इ॒मा ब्रह्म॑ बृहद्दिवो विवक्तीन्द्रा॑य शू॒षमङ्गि॑रयः स्व॒र्षाः।
म॒हो गो॒त्रस्य॑ क्षयति स्व॒राजो॒ दुर॑श्च॒ विश्वा॑ अवृणोदप॒ स्वाः॥ ८॥
ए॒वा म॒हान्बृ॑हद्दिवो॒ अथ॒र्वावो॑च॒त्स्वां त॒न्व१॑मिन्द्र॑मे॒व।
स्वसा॑रो मात॒रिभ्व॑रीररि॒प्रा हि॒न्वन्ति॑ च॒ शव॑सा व॒र्धय॑न्ति च ॥ ९॥

[१२१] एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः॥ देवता—कः॥ छन्दः—१, ३, ६, ८, ९ त्रिष्टुप्; २, ५ निचृत्त्रिष्टुप्; ४, १० विराट्त्रिष्टुप्; ७ स्वराट्-त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥२॥
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥३॥
यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥४॥
येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥५॥
यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥६॥
आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥७॥
यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम॥८॥
मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥९॥
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥१०॥

[१२५] पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—वागाम्भृणी॥ देवता—वागाम्भृणी॥ छन्दः—१, ३, ७, ८ विराट्त्रिष्टुप्; २ पादनिचृज्जगती; ४, ५ त्रिष्टुप्; ६ निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१, ३-८ धैवतः; २ निषादः॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥१॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं ददामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते॥२॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥३॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥४॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥५॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥६॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥७॥
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥८॥

[१२६] षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः॥ देवता—विश्वे देवाः॥
छन्द—१, ५, ६ निचृद्बृहती; २-४ विराड्बृहती; ७ बृहती; ८ आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—१-७ मध्यमः; ८ धैवतः॥
न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयन्ति वरुणो अति द्विषः॥१॥
तद्धि वयं वृणीमहे वरुण मित्रार्यमन्।
येना निरंहसो यूयं पाथ नेथा च मर्त्यमति द्विषः॥२॥
ते नूनं नोऽयमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा।
नयिष्ठा उ नो नेषणि पर्षिष्ठा उ नः पर्षण्यति द्विषः॥३॥
यूयं विश्वं परि पाथ वरुणो मित्रो अर्यमा।
युष्माकं शर्मणि प्रिये स्याम सुप्रणीतयोऽति द्विषः॥४॥

आदित्यासो अति स्रिधो वरुणो मित्रो अर्यमा।
उग्रं मरुद्भी रुद्रं हुवेमेन्द्रमग्निं स्वस्तयेऽति द्विषः॥५॥
नेतारु षु णस्तिरो वरुणो मित्रो अर्यमा।
अति विश्वानि दुरिता राजानश्चर्षणीनामति द्विषः॥६॥
शुनमस्मभ्यमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा।
शर्म यच्छन्तु सप्रथ आदित्यासो यदीमहे अति द्विषः॥७॥
यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित्पदि षिताममुञ्चता यजत्राः।
एवो ष्वस्मन्मुञ्चता व्यंहः प्र तार्यग्ने प्रतरं न आयुः॥८॥

[१२८] अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—आङ्गिरसो विहव्यः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—१, ३ विराट्-त्रिष्टुप्; २, ५, ८ त्रिष्टुप्; ४, ६ निचृत्त्रिष्टुप्; ७ भुरिक्त्रिष्टुप्;९ पादनिचृज्जगती॥ स्वरः—१-८ धैवतः; ९ निषादः॥

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥१॥
मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामे अस्मिन्॥२॥
मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः।
दैव्या होतारो वनुषन्त पूर्वेऽरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः॥३॥
मह्यं यजन्तु मम यानि हव्याकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवासो अधि वोचता नः॥४॥
देवीः षळुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन्॥५॥
अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषामदब्धो गोपाः परि पाहि नस्त्वम्।
प्रत्यञ्चो यन्तु निगुतः पुनस्तेऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत्॥६॥
धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम्।
इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात्॥७॥

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यंसदस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षुः।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृळयेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः॥८॥
ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्॥९॥

[१२९] एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी॥ देवता—भाववृत्तम्॥ छन्दः—१-३ निचृत्त्रिष्टुप्; ४-६ त्रिष्टुप्; ७ पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥५॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥६॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥७॥

[१३१] एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सुकीर्तिः काक्षीवतः॥ देवता—१-३, ६, ७ इन्द्रः; ४, ५ अश्विनौ॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप्; २ निचृत्त्रिष्टुप्; ३ विराट्त्रिष्टुप्; ४ निचृदनुष्टुप्; ५, ६, ७ पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१-३, ५-७ धैवतः; ४ गान्धारः॥

अप प्राचः इन्द्र विश्वाँ अमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व।
अपोदीचो अप शूराधराचः उरौ यथा तव शर्मन्मदेम॥ १॥
कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः॥ २॥
नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः॥ ३॥
युवं सुरामंमश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम्॥ ४॥
पुत्रमिव पितराववश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्॥ ५॥
इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ ६॥
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु॥ ७॥

[१३३] त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सुदाः पैजवनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१-३ शक्वरी; ४-६ महापङ्क्तिः; ७ विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१-३, ७ धैवतः; ४-६ पञ्चमः॥
प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत। अभीके चिदु लोककृत्संगे समत्सु वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ १॥
त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम्। अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ २॥
वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः। अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ ३॥
यो न इन्द्राभितो जनो वृकायुरादिदेशति। अधस्पदं तमीं कृधि विबाधो असि सासहिर्नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ ४॥
यो न इन्द्राभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः।
अव तस्य बलं तिर महीव द्यौरध त्मना नभन्तामन्यकेषांज्याका अधि धन्वसु॥ ५॥

वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमा रभामहे।ऋतस्य नः पथा नयाति विश्वानि दुरिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ ६॥
अस्मभ्यं सु त्वमिन्द्र तां शिक्ष या दोहते प्रति वरं जरित्रे।
अच्छिद्रोध्नी पीपयद्यथा नः सहस्रधारा पयसा मही गौः॥ ७॥

[१३७] सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सप्त ऋषय एकर्चाः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—१, ४, ६ अनुष्टुप्; २, ३, ५, ७ निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ १॥
द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः॥ २॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥ ३॥
आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्मं सुवामि ते॥ ४॥
त्रायन्तामिह देवास्त्रायतां मरुतां गणः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥ ५॥
आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥ ६॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां त्वा ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि॥ ७॥

[१५१] एकपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—श्रद्धा कामायनी॥ देवता—श्रद्धा॥ छन्दः—१, ४, ५ अनुष्टुप्; २ विराडनुष्टुप्; ३ निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ १॥
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥ २॥
यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥ ३॥
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्या१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ ४॥
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ ५॥

[१६४] चतुःषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—आङ्गिरसः प्रचेताः॥ देवता—दुःस्वप्रघ्नम्॥ छन्दः—१ निचृदनुष्टुप्; २ अनुष्टुप्; ३ आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्; ४ विराडनुष्टुप्; ५ पङ्क्ति॥ स्वरः—१, २, ४ गान्धारः; ३ धैवतः; ५ पञ्चमः॥

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥१॥
भद्रं वै वरं वृणते भद्रं यज्ञन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बर्हुत्रा जीवतो मनः॥२॥
यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु॥३॥
यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि।
प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः॥४॥
अजैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम्।
जाग्रत्स्वप्नः सङ्कल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु॥५॥

[१७९] एकोनाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—१ शिबिरौशीनरः; २ प्रतर्दनः काशिराजः; ३ वसुमना रौहिदश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१ निचृदनुष्टुप्; २ निचृत्- त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१ गान्धारः; २, ३ धैवतः॥

उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्। यदि श्रातो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन॥ १॥
श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो विमध्यम्।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्॥ २॥
श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुश्रीतं मन्ये तदृतं नवीयः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः॥ ३॥

[१८६] षडशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—उलो वातायनः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—१, २ गायत्री; ३ निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्र ण आयूँषि तारिषत्॥ १॥
उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि॥ २॥
यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे॥ ३॥

[१८७] सप्ताशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—वत्स आग्नेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—१ निचृद्गायत्री; २-५ गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः॥ १॥
यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते। स नः पर्षदति द्विषः॥ २॥
यो रक्षांसि निजूर्वति वृषा शुक्रेण शोचिषा। स नः पर्षदति द्विषः॥ ३॥
यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पर्षदति द्विषः॥ ४॥
यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत। स नः पर्षदति द्विषः॥ ५॥

[१९०] नवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अघमर्षणो माधुच्छन्दसः॥ देवता—भाववृत्तम्॥ छन्दः—१ विराडनुष्टुप्; २ अनुष्टुप्; ३ पादनिचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

ऋ॒तं च॑ स॒त्यं चा॒भीद्धा॒त्तप॒सोऽध्य॑जायत।
तत॒ो रात्र्य॑जायत॒ ततः॑ समु॒द्रो अ॑र्ण॒वः॥ १॥
स॒मु॒द्रादर्ण॒वादधि॑ संवत्स॒रो अ॑जायत।
अ॒होरा॒त्राणि॑ वि॒दध॒द्विश्व॑स्य मिष॒तो व॒शी॥ २॥
सूर्या॒चन्द्र॒मसौ॑ धा॒ता य॑थापू॒र्वम॑कल्पयत्। दिवं॑ च पृथि॒वीं चा॒न्तरि॑क्ष॒मथो॒ स्वः॑॥ ३॥

[१९१] एकनवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—आङ्गिरसः संवननः॥ देवता—१ अग्निः; २-४ संज्ञानम्॥ छन्दः— १ विराडनुष्टुप्; २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप्; ४ निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—१, २, ४ गान्धारः; ३ धैवतः॥

संस॒मिद्यु॑वसे वृषन्नग्ने॒ विश्वा॒न्यर्य आ। इ॒ळस्प॒दे सम॑िध्यसे॒ स नो॒ वसू॒न्या भ॑र॥ १॥
सं ग॑च्छध्वं॒ सं व॑दध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम्।
दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ संजाना॒ना उ॒पास॑ते॥ २॥
स॒मा॒नो मन्त्रः॒ सम॑ितिः समा॒नी स॑मा॒नं मन॑ः स॒ह चि॒त्तमे॑षाम्।
स॒मा॒नं मन्त्र॑मभि म॑न्त्रये वः समा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि॥ ३॥
स॒मा॒नी व॒ आकू॑तिः समा॒ना हृद॑यानि वः।
स॒मा॒नम॑स्तु वो॒ मनो॒ यथा॑ वः॒ सुस॒हास॑ति॥ ४॥

★ ★ ★

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

ऋषिः—नारायणः १-१६। उत्तरनारायणः १७-२२॥ देवता—पुरुषः १ ३, ४, ६, ८-१६। ईशानः २। त्वष्टा ५। त्वष्टेश्वरः७। आदित्यः १७-१९, २२। सूर्यः २०। विश्वेदेवाः २१॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् १-३, ८-११, १४। अनुष्टुप् ४, ५, ७, १२, १३, १५, २०, २१। विराडनुष्टुप् ६। विराट्त्रिष्टुप् १६। भुरिक्त्रिष्टुप् १७, १९। निचृत्त्रिष्टुप् १८। निचृदार्षीत्रिष्टुप् २२॥ स्वरः—गान्धारः १-१५, २०, २१। धैवतः १६-१९, २२॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥१॥
पुरुषऽ एवेदꣳसर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशनेऽअभि॥४॥
ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुषः।
स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥५॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥६॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽ ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥७॥
तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः॥८॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये॥९॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।

मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादाऽउच्येते॥१०॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रोऽअजायत॥११॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥१२॥
नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षꣳशीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२॥ऽअकल्पयन्॥१३॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः॥१४॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽअबध्नन् पुरुषं पशुम्॥१५॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥१६॥
अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥१७॥
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥१८॥
प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥१९॥
यो देवेभ्यऽआतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥२०॥
रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽअसन्वशे॥२१॥
श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण॥२२॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

ऋषिः—स्वयम्भु ब्रह्म १-१२। मेधाकामः १३-१५। श्रीकामः १६॥
देवता—परमात्मा १, २, ६-८, १०-१२, १४। हिरण्यगर्भः परमात्मा ३। आत्मा ४। परमेश्वरः ५। विद्वान् ९। इन्द्रः १३। परमेश्वरविद्वांसौ १५। विद्वद्राजानौ १६॥
छन्दः—अनुष्टुप् १, २, १६। निचृत्पङ्क्तिः ३। भुरिक्त्रिष्टुप् ४, ५। निचृत्त्रिष्टुप् ६, ८-११। स्वराडतिजगती ७। त्रिष्टुप् १२। भुरिग्गायत्री १३। निचृदनुष्टुप् १४। निचृद्बृहती १५॥
स्वरः—गान्धारः १, २, १४, १६। पञ्चमः ३, १३। धैवतः ४-६, ८-१२। निषादः ७। मध्यमः १५॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥१॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्॥२॥
न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भऽइत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जातऽइत्येषः॥३॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽउ गर्भेऽअन्तः।
सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥४॥
यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥५॥
येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥६॥
यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तभानेऽअभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूरऽउदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेमआपो ह यद्बृहतीर्यश्चदापः॥७॥
वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥८॥
प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥९॥
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥१०॥
परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वीः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश॥११॥
परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥१२॥
सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥१३॥
यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥१४॥
मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा॥१५॥
इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥१६॥

★★★

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

ऋषिः—आदित्या देवा वा १, ३, ५, ८। आदित्या देवाः २, ४, ६, ९, १२-१४, १६, २०, २२। सटसुकः ७, १५। सुचीकः १०। शुनःशेपः ११। वैखानसः १७। भरद्वाजः शिरिम्बिठः १८। दमनः १९। मेधातिथिः २१॥ देवता—पितरः १। सविता २, ३। वायुसवितारौ ४, ५। प्रजापतिः ६। यमः ७। विश्वेदेवाः ८-१०। आपः ११, १२। कृषीबलाः १३। सूर्यः १४। ईश्वरः १५। अग्निः १६, १७, १९, २२। इन्द्रः १८। जातवेदाः २०। पृथिवी २१॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्रीक, प्राजापत्याबृहतीर १। गायत्री २, १६। उष्णिक् ३, ६। अनुष्टुप् ४, ८। भुरिग्गायत्री ५। त्रिष्टुप् ७, १५, १९। स्वराड्बृहती ९। निचृत्त्रिष्टुप् १०। विराडनुष्टुप् ११, १४, १८। निचृदनुष्टुप् १२। स्वराडनुष्टुप् १३। स्वराट्त्रिष्टुप् १७, २०। निचृद्गायत्रीक, प्राजापत्यागायत्रीर २१। स्वराड्गायत्री २२॥ स्वरः—षड्जः १क, २, ५, १६, २१, २२। मध्यमः १र, ९। ऋषभः ३, ६। गान्धारः ४, ८, ११-१४, १८। धैवतः ७, १०, १५, १७, १९, २०॥

[क]अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः। अस्य लोकः सुतावतः।
[र]द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै॥१॥
सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु। तस्मै
युज्यन्तामुस्रियाः॥२॥
वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा।
विमुच्यन्तामुस्रियाः॥३॥
अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥४॥
सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थऽआवपतु।
तस्मै पृथिवि शम्भव॥५॥

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ।
अप नः शोशुचदघम्॥६॥
परेहि मृत्योऽअनुपरेहि पन्थां यस्तेऽअन्यऽइतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳरीरिषो मोत वीरान्॥७॥
शं वातः शꣳहि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभिशूशुचन्॥८॥
कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।
अन्तरिक्षꣳशिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः॥९॥
अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥१०॥
अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः।
अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव॥११॥
सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्
द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१२॥
अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयꣳस्वस्तये।
स नऽइन्द्रऽइव देवेभ्यो वह्निः सन्तारणो भव॥१३॥
उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१४॥
इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरोऽअर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥१५॥
अग्नऽआयूꣳषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥१६॥

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमान्त्स्वाहा॥१७॥
परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत।
देवेष्वक्रत श्रवः कऽइमाँ२॥ऽआददधर्षति॥१८॥
क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥१९॥
वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके।
मेदसः कुल्याऽउप तान्त्स्रवन्तु सत्याऽएषामाशिषः सं नमन्ताꣳ स्वाहा॥२०॥
[क]स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः। [ख]अप नः शोशुचदघम्॥२१॥
अस्मात्त्वमधिजातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः।
असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा॥२२॥

★★★

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः १, २, ७-१२, १७-१९, २१-२४। विश्वामित्रः ३। वामदेवः ४-६। मेधातिथिः १३। सिन्धुद्वीपः १४-१६। लोपामुद्रा २०॥ देवता—अग्निः १, २०। बृहस्पतिः २। सविता ३। इन्द्रः ४-८। मित्रादयो लिगेक्ताः९। वातादयः १०। लिगेक्ताः ११। आपः १२, १४-१६। पृथिवी १३। ईश्वरः १७-१९, २१, २२। सोमः २३। सूर्यः २४॥ छन्दः—पङ्क्तिः १। निचृत्पङ्क्तिः २। दैवीबृहतीक, निचृद्गायत्रीर ३। गायत्री ४, १२, १४-१६। निचृद्गायत्री ५। पादनिचृद्गायत्री ६, १९। वर्द्धमानागायत्री ७। द्विपाद्विराड्गायत्री ८। निचृदनुष्टुप् ९, २१, २३। विराडनुष्टुप् १०। अतिशक्वरी ११। पिपीलिकामध्यानिचृद् गायत्री १३। भुरिक्शक्वरी १७। भुरिग्जगती १८। भुरिग्बृहती २०। भुरिगुष्णिक् २२। भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप् २४॥ स्वरः—पञ्चमः १, २, ११। मध्यमः ३क, २०। षड्जः ३र, ४-८, १२-१६, १९। गान्धारः ९, १०, २१, २३। धैवतः १७, २४। निषादः १८। ऋषभः २२॥

ऋचं॑ वाचं॒ प्रप॑द्ये॒ मनो॒ यजुः॒ प्रप॑द्ये॒ साम॑ प्रा॒णं प्रप॑द्ये॒ चक्षुः॒ श्रोत्रं॑ प्रप॑द्ये। वागोजः॑ स॒हौजो॒ मयि॑ प्राणापा॒नौ॥१॥

यन्मे॑ छि॒द्रं चक्षु॑षो॒ हृद॑यस्य॒ मन॑सो॒ वाति॑तृण्णं॒ बृह॒स्पति॑र्मे॒ तद्दधातु।

शं नो॑ भवतु॒ भुव॑नस्य॒ यस्पतिः॑॥२॥

[क]भूर्भु॒वः॒ स्व॒रः॑। [र]तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि।

धिय॒ो यो नः॑ प्रचो॒दया॑त्॥३॥

कया॑ न॒श्चि॒त्रऽआभु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑।

कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता॥४॥

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मꣳहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः।

दृ॒ढा चि॑दा॒रुजे॒ वसु॑॥५॥

अ॒भी षु ण॒ः सखी॑नामवि॒ता ज॑रितॄणाम्। श॒तं भवास्यू॒तिभिः॑॥६॥

कया॒ त्वं न॑ऽऊ॒त्याभिप्रम॑न्दसे वृषन्। कया॑ स्तो॒तृभ्य॒ऽआभ॑र।।७।।
इन्द्रो॒ विश्व॑स्य राजति। शन्नो॑ऽअस्तु द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे।।८।।
शन्नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑ण॒ः शन्नो॑ भवत्वर्य॒मा।
शन्न॒ऽइन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः।।९।।
शन्नो॒ वात॑ः पवता॒ꣳ शन्न॑स्तपतु॒ सूर्य॑ः।
शन्न॒ः कनि॑क्रदद्देव॒ः प॒र्जन्यो॑ऽअभिवर्षतु।।१०।।
अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु न॒ः शꣳरात्री॒ः प्रति॑धीयताम्।
शन्न॑ऽइन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒ः शन्न॒ऽइन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।
शन्न॑ऽइन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शंयोः।।११।।
शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शꣳयो॒र॒भिस्र॑वन्तु नः।।१२।।
स्यो॒ना पृ॑थिवि नो भवानृक्ष॒रा नि॒वेश॑नी।
यच्छा॑ न॒ः शर्म॑ स॒प्रथा॑ः।।१३।।
आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ऽऊ॒र्जे द॑धातन।
म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से।।१४।।
यो व॑ः शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह न॑ः।
उ॒श॒तीरि॑व मा॒तर॑ः।।१५।।
तस्मा॒ऽअर॑ꣳगमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ।
आपो॑ ज॒नय॑था च नः।।१६।।
द्यौः शान्ति॑र॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ शान्ति॑ः पृथि॒वी शान्ति॒राप॒ः शान्ति॒रोष॑धय॒ः
शान्ति॑ः। व॒न॒स्पत॑य॒ः शान्ति॒र्विश्वे॑ दे॒वाः शान्ति॒र्ब्रह्म॒ शान्ति॒ः सर्व॒ꣳ
शान्ति॒ः शान्ति॑रे॒व शान्ति॒ः सा मा॒ शान्ति॑रेधि।।१७।।
दृ॒ते दृ॒ꣳह मा मि॒त्रस्य॑ मा॒ चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णि भू॒तानि॒ समी॑क्षन्ताम्।
मि॒त्रस्या॒हं चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णि भू॒तानि॒ समी॑क्षे। मि॒त्रस्य॒ चक्षु॑षा॒ समी॑क्षामहे।।१८।।

दृते दृꣳह मा। ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम्॥१९॥

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्तेऽअस्त्वर्चिषे।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥२०॥

नमस्तेऽअस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे॥२१॥

यतो यतः समीहसे ततो नोऽअभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥२२॥

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२३॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥२४॥

★★★

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

ऋषिः—दीर्घतमाः १-१७॥ देवता—आत्मा १-३, ५-१७। ब्रह्म ४॥ छन्दः—अनुष्टुप् १, ३, ९-११, १३, १७। भुरिगनुष्टुप् २। निचृत्त्रिष्टुप् ४, १६। निचृदनुष्टुप् ५-७, १२। स्वराड्जगती ८। स्वराडुष्णिक् १४, १५॥ स्वरः—गान्धारः १-३, ५-७, ९-१३, १७। धैवतः ४, १६। निषादः ८। ऋषभः १४, १५॥

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥
असुर्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥६॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥७॥
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः॥८॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः।।९।।
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१०।।
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।११।।
अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाꣳरताः।।१२।।
अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽअन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१३।।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।१४।।
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳस्मर।।१५।।
अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम।।१६।।
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म।।१७।।

★★★

अथर्ववेदः

प्रथमं काण्डम्

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—वाचस्पतिः॥ छन्दः—१-३ अनुष्टुप्; ४ चतुष्पदाविराडुरोबृहती॥

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥१॥
पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥२॥
इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नीइव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥३॥
उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि॥४॥

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा (आयुष्कामः)॥ देवता—हिरण्यम्॥ छन्दः—१-३ जगती; ४ अनुष्टुर्बर्भाचतुष्पदात्रिष्टुप्॥

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥१॥
नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥२॥
अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो भिरद्धिरण्यम्॥३॥
समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते ऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥४॥

★★★

अथ द्वितीयं काण्डम्

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—वेनः॥ देवता—ब्रह्म, आत्मा॥ छन्दः—१, २, ४, ५ त्रिष्टुप्; ३ जगती॥

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्य नूषत व्राः॥१॥
प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान्गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥२॥
स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥३॥
परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः॥४॥
परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त॥५॥

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—प्राणः॥ छन्दः—त्रिपाद्गायत्री॥

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥१॥
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥२॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥३॥
यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥४॥
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥५॥
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥६॥

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ओजःप्रभृतीनि॥ छन्दः—१-६ एकपदाऽऽ-सुरीत्रिष्टुप्; ७ आसुर्युष्णिक्॥

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा॥१॥
सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा॥२॥
बलमसि बलं मे दाः स्वाहा॥३॥
आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा॥४॥
श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा॥५॥
चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा॥६॥
परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा॥७॥

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—चातनः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—द्विपदासाम्नीबृहती॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा॥१॥
सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा॥२॥
अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा॥३॥
पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा॥४॥
सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा॥५॥

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—१-४ निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री; ५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री॥

अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥१॥
अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥२॥
अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥३॥
अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥४॥
अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥५॥

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—१-४ निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री; ५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री॥

वायो॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥१॥
वायो॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥२॥
वायो॒ यत्ते॒ ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥३॥
वायो॒ यत्ते॑ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥४॥
वायो॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणु॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥५॥

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—१-४ निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री; ५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री॥

सूर्य॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥१॥
सूर्य॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥२॥
सूर्य॒ यत्ते॒ ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥३॥
सूर्य॒ यत्ते॑ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥४॥
सूर्य॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणु॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥५॥

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—चन्द्रः॥ छन्दः—१-४ निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री; ५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री॥

चन्द्र॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥१॥
चन्द्र॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥२॥
चन्द्र॒ यत्ते॒ ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥३॥
चन्द्र॒ यत्ते॑ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥४॥
चन्द्र॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणु॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥५॥

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—आपः॥ छन्दः—१-४ समविषमात्रिपाद्गायत्री; ५ स्वराड्विषमात्रिपाद्गायत्री॥

आपो॒ यद्व॒स्तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तपत॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥१॥
आपो॒ यद्वो॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हरत॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥२॥
आपो॒ यद्वो॒ऽ र्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्चत॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥३॥
आपो॒ यद्वः॑ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोचत॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥४॥
आपो॒ यद्व॒स्तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणुत॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः॥५॥

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आयुः॥ छन्दः—१, २, पुरउष्णिक्पङ्क्तिः, ३, ४ पुरोदेवत्यापङ्क्तिः; ५ चतुष्पदाबृहती; ६-८ भुरिक्चतुष्पदाबृहती॥

शेर॑भक॒ शेर॑भ॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमी॑दिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त॥१॥
शेवृ॑धक॒ शेवृ॑ध॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमी॑दिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त॥२॥
म्रोकानु॑म्रोक॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमी॑दिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त॥३॥
सर्पानु॑सर्प॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमी॑दिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त॥४॥
जूर्णि॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमी॑दिनीः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त॥५॥
उप॑ब्दे॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमी॑दिनीः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त॥६॥
अर्जु॑नि॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमी॑दिनीः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त॥७॥
भरू॑जि॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमी॑दिनीः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त॥८॥

तृतीयं काण्डम्

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—सांमनस्यम्॥ छन्दः—१-४ अनुष्टुप्; ५ विराड्जगती; ६ प्रस्तारपङ्क्तिः; ७ त्रिष्टुप्॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥१॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥३॥
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥४॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥५॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥६॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥७॥

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१-३, ६-११ अनुष्टुप्; ४ भुरिगनुष्टुप्; ५ विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः॥

वि देवा जरसावृतन्वि त्वमग्ने अरात्या।
व्यꣳहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥१॥
व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥२॥
वि ग्राम्याः॒ प॒शव॑ आर॒ण्यैर्व्या॑ पस्तृष्णा॑यासरन्।
व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥३॥
वी॒३॒॑मे द्यावा॑पृथिवी इ॒तो वि प॑न्था॒नो॒ दिशं॑दिशम्।
व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥४॥
त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑हतुं यु॒नक्ती॒तीदं विश्वं॒ भुव॑नं॒ वि या॑ति।
व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥५॥
अ॒ग्निः प्रा॒णान्त्सं द॑धाति च॒न्द्रः प्रा॒णेन॒ संहि॑तः।
व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥६॥
प्रा॒णेनं॑ वि॒श्वतो॑वीर्यं दे॒वाः सूर्यं॑ समैरयन्।
व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥७॥
आयु॑ष्मतामायु॒ष्कृतां॑ प्रा॒णेनं॑ जीव॒ मा मृ॑थाः।
व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥८॥
प्रा॒णेनं॑ प्राण॒तां प्रा॒णैहैव भ॑व॒ मा मृ॑थाः।
व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥९॥
उदायु॑षा॒ समायु॒षोदोष॑धीनां॒ रसे॑न।
व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥१०॥
आ प॒र्जन्य॑स्य वृ॒ष्ट्योद॑स्थाम॒मृता॑ व॒यम्।
व्य॑हं सर्वेण पाप्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥११॥

★★★

अथ चतुर्थं काण्डम्

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—वेनः॥ देवता—बृहस्पतिः, आदित्यः॥ छन्दः—१, ३, ४, ६, ७ त्रिष्टुप्; २, ५ पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्॥

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑मत॒ः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः।
स बु॒ध्न्या॑ उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि व॑ः॥१॥
इ॒यं पित्र्या॑ राष्ट्र्ये॒त्वग्रे॑ प्रथ॒माय॑ जनु॒षे भु॑वने॒ष्ठाः।
तस्मा॑ ए॒तं सु॒रुचं॑ ह्वा॒रम॑ह्मं घ॒र्मं श्री॑णन्तु प्रथ॒माय॑ धा॒स्यवे॑॥२॥
प्र यो ज॒ज्ञे वि॒द्वान॑स्य॒ बन्धु॑र्वि॒श्वा दे॒वाना॑ं जनि॒मा विव॑क्ति।
ब्रह्म॒ ब्रह्म॑ण॒ उज्ज॑भार॒ मध्या॒न्नीचै॒रुच्चैः॑ स्व॒धा अ॒भि प्र त॑स्थौ॥३॥
स हि दि॒वः स पृ॑थि॒व्या ऋ॒तस्था म॒ही क्षेम॑ रोद॒सी अस्कभायत्।
म॒हान्म॒ही अस्क॑भाय॒द्वि जा॒तो द्यां सद्म॒ पार्थि॑वं च॒ रज॑ः॥४॥
स बु॒ध्न्या॑ दा॒ष्ट्र जु॒नुषो॑ऽभ्य॒ग्रं बृ॒हस्पति॑र्दे॒वता॒ तस्य॑ स॒म्राट्।
अह॒र्यच्छु॒क्रं ज्योति॑षो॒ जनि॒ष्टाथ॒ द्युम॑न्तो॒ वि व॑सन्तु॒ विप्रा॑ः॥५॥
नू॒नं तद॑स्य का॒व्यो हि॑नोति म॒हो दे॒वस्य॑ पू॒र्व्यस्य॒ धाम॑।
ए॒ष ज॑ज्ञे ब॒हुभि॑ः सा॒कमि॒त्था पू॒र्वे अ॒र्धे वि॑षि॒ते स॒सन्तु॥६॥
योऽथ॑र्वाणं पि॒तर॑ं दे॒वब॑न्धुं बृ॒हस्पति॑ं नम॒सावं॑ च॒ गच्छा॑त्।
त्वं विश्वे॑षां जनि॒ता यथास॑ः क॒विर्दे॒वो न दभा॑यत्स्व॒धाव॑ान्॥७॥

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—अनड्वान् इन्द्ररूपः॥ छन्दः—१, ४ जगती; २ भुरिक्त्रिष्टुप्; ३, ५, ६ त्रिष्टुप्; ७ षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भो-परिष्टाज्जगती निचृच्छक्वरी; ८-१२ अनुष्टुप्॥

अ॒न॒ड्वान्दा॑धार पृथि॒वीमु॒त द्याम॑न॒ड्वान्दा॑धारो॒र्व१॑न्तरि॑क्षम्।
अ॒न॒ड्वान्दा॑धार प्र॒दिश॒ः षडु॒र्वी॑र॒न॒ड्वान्वि॑श्वं॑ भुव॒न॒मा वि॑वेश॥१॥
अ॒न॒ड्वानि॑न्द्रः॑ स प॒शुभ्यो॒ वि च॑ष्टे त्र॒यां छ॒क्रो वि मि॑मीते॒ अध्व॑नः।

भूतं भविष्यद्धुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि॥२॥
इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्धर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः।
सुप्रजाः सन्त्स उदरे न सर्षद्यो नाश्नीयादनडुहो विजानन्॥३॥
अनड्वान्दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात्।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य॥४॥
यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता।
यो विश्वजिद्विश्वभृद्विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात्॥५॥
येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥६॥
इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहैन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट्।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानडुह्यक्रमत। सो ऽदृंहयत सो ऽधारयत॥७॥
मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः। एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः॥८॥
यो वेदानडुहो दोहान्त्सप्तानुपदस्वतः। प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः॥९॥
पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्।
श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः॥१०॥
द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम्॥११॥
दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि। दोहा ये अस्य संयन्ति तान्विद्मानुपदस्वतः॥१२॥

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥१॥
द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रपः॥२॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे॥३॥

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥४॥
आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षै त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते॥५॥
अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥६॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥७॥

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अग्निः, आज्यम्॥ छन्दः—१, ५, ६ त्रिष्टुप्; २, ४ अनुष्टुप्; ३ प्रस्तारपङ्क्तिः; ७, ९ जगती; ८ पञ्चपदाऽतिशक्वरी॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः॥१॥
क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान्हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥२॥
पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम्॥३॥
स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥४॥
अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति॥५॥
अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्॥६॥
पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम्।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम्॥७॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्।

ऊ॒र्ध्वायां॑ दि॒श्य१॒॑जस्यानू॑कं धेहि दि॒शि ध्रु॒वायां॑ धेहि पाज॒स्य॑ ऽमन्तरि॑क्षे मध्य॒तो मध्य॑मस्य॥८॥

शृ॒तम॒जं शृ॒तया॒ प्रोर्णु॑हि त्व॒चा सर्वै॒रङ्गै॒: संभृ॑तं वि॒श्वरू॑पम्।
स उत्ति॑ष्ठे॒तो अ॒भि नाक॑मुत्त॒मं प॒द्भिश्च॒तुर्भि॒: प्रति॑ तिष्ठ दि॒क्षु॥९॥

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्॥ छन्दः—१ अनुष्टुप्; २-४, ६ त्रिष्टुप्; ५ भुरिक्त्रिष्टुप्; ७ जगती; ८ त्रिपान्महाबृहती; ९ विराण्नामत्रिपाद्गायत्री॥

बृ॒हन्ने॑षामधिष्ठा॒ता अ॑न्ति॒कादि॑व पश्यति।
य स्ता॒यन्म॑न्य॒ते॒ चर॒न्त्सर्वं॑ दे॒वा इ॒दं वि॑दुः॥१॥
यस्ति॑ष्ठति॒ चर॑ति॒ यश्च॒ वञ्च॑ति॒ यो नि॒लाय॑ं॒ चर॑ति॒ यः प्र॒तङ्क॑म्।
द्वौ सं॑नि॒षद्य॒ यन्म॒न्त्रय॑ते॒ राजा॒ तद्वे॒द॒ वरु॑णस्तृ॒तीय॑ः॥२॥
उ॒तेयं भूमि॑र्वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ उ॒तासौ द्यौर्बृ॑ह॒ती दू॒रेअ॑न्ता।
उ॒तो स॑मु॒द्रौ वरु॑णस्य कु॒क्षी उ॒तास्मिन्न॒ल्प॑ उद॒के नि॑ली॒नः॥३॥
उ॒त यो द्याम॑ति॒सर्पा॑त्प॒रस्ता॒न्न स मु॑च्यातै॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ः।
दि॒व स्पश॒: प्र च॑रन्ती॒दम॑स्य सहस्रा॒क्षा अति॑ पश्यन्ति॒ भूमि॑म्॥४॥
सर्वं॑ तद्राजा॒ वरु॑णो॒ वि च॑ष्टे॒ यद॑न्त॒रा रोद॑सी॒ यत्प॒रस्ता॑त्।
संख्या॑ता अस्य नि॒मिषो॒ जना॑नाम॒क्षानि॑व श्व॒घ्नी नि मि॑नोति॒ तानि॑॥५॥
ये ते॒ पाशा॑ वरुण स॒प्तस॑प्त त्रे॒धा ति॑ष्ठन्ति॒ विषि॑ता॒ रुश॑न्तः।
छि॒नन्तु॒ सर्वे॑ अनृ॑तं॒ वद॑न्तं॒ यः स॑त्यवा॒द्यति॒ तं सृ॑जन्तु॥६॥
श॒तेन॒ पाशै॑र॒भि धे॑हि वरुणैनं॒ मा तै॑ मोच्यनृ॒तवाङ् नृ॑चक्षः।
आस्तां॑ जा॒ल्म उ॒दर॑ं श्रंसयि॒त्वा कोश॑इवाब॒न्धः प॑रिकृ॒त्यमा॑नः॥७॥
यः स॑मा॒म्यो३॑ वरु॑णो॒ यो व्या॒म्यो३॑ यः स॑न्दे॒श्यो३॑ वरु॑णो॒ यो वि॑दे॒श्य॑ ऽः।
यो दै॒वो वरु॑णो॒ यश्च॒ मानु॑षः॥८॥
तैस्त्वा॒ सर्वै॑र॒भि ष्या॑मि॒ पाशै॑रसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र।
तानु॑ ते॒ सर्वा॑ननुसन्दि॑शामि॥९॥

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मृगारः॥ देवता—वायुसवितारौ॥ छन्दः—१, २, ४-६ त्रिष्टुप्; ३ विराड्जगती; ७ पथ्याबृहती॥

वा॒योः स॑वि॒तुर्वि॒दथा॑नि मन्महे॒ यावा॑त्म॒न्वद्बि॑शथो॒ यौ च॒ रक्ष॑थः।
यौ विश्व॑स्य परि॒भू ब॑भू॒वथु॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥१॥
ययो॒ः संख्या॑ता॒ वरि॑मा॒ पार्थि॑वानि॒ याभ्यां॑ रजो॑ युपि॒तम॒न्तरि॑क्षे।
यया॑ोः प्रा॒यं नान्वा॑न॒शे कश्च॒न तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥२॥
तव॑ व्र॒ते नि वि॑शन्ते॒ जना॑स॒स्त्वय्युदि॑ते॒ प्रेर॑ते चित्रभानो।
यु॒वं वा॑यो सवि॒ता च॒ भुव॑नानि रक्षथ॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥३॥
अपे॒तो वा॑यो सवि॒ता च॑ दुष्कृ॒तमप॒ रक्षां॑सि शिमि॑दां च सेधतम्।
सं ह्यू३॒र्जया॑ सृ॒जथ॒ः सं बले॑न॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥४॥
र॒यिं मे॒ पोषं॑ सवि॒तोत वा॒युस्त॒नू दक्ष॒मा सु॑वतां सु॒शेव॑म्।
अ॒य॒क्ष्मता॑तिं मह॑ इ॒ह ध॑त्तं॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥५॥
प्र सु॑म॒तिं स॑वितर्वाय ऊ॒तये॒ मह॑स्वन्तं मत्स॒रं मा॑दयाथः।
अ॒वा॒ग्वा॒मस्य॑ प्र॒वतो॒ नि य॑च्छतं॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥६॥
उप॒ श्रेष्ठा॑ न आ॒शिषो॑ दे॒वयो॒र्धाम॑न्नस्थिरन्।
स्तौमि॑ दे॒वं स॑वि॒तार॑ं च वा॒युं तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥७॥

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मृगारः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

म॒रुता॑ मन्वे॒ अधि॑ मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाज॒ं वाज॑साते अवन्तु।
आ॒शूनि॑व सु॒यमा॑नह्व ऊ॒तये॒ ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः॥१॥
उत्स॒मक्षि॑तं॒ व्यच॑न्ति॒ ये सदा॒ य आ॑सि॒ञ्चन्ति॒ रस॒मोष॑धीषु।
पु॒रो द॑धे म॒रुत॒ः पृश्नि॑मातॄ॑स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः॥२॥
पयो॑ धे॒नूना॑ रस॒मोष॑धीनां॒ ज॒वमर्व॑तां कवयो॒ य इन्व॑थ।
श॒ग्मा भ॑वन्तु म॒रुतो॑ नः स्यो॒नास्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः॥३॥

अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥४॥
ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥५॥
यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥६॥
तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम्।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥७॥

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मृगारः॥ देवता—भवाशर्वौ॥ छन्दः—१ अतिजागतगर्भा-भुरिक्त्रिष्टुप्; २-७ त्रिष्टुप्॥

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥१॥
ययोरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद्यौ विदितावि॑षुभृतामसिष्ठौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥२॥
सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥३॥
यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमभिभां जनेषु।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥४॥
ययोर्वर्धान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥५॥
यः कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधानो नि तस्मिन्धत्तं वज्रमुग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥६॥
अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः॥७॥

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—मृगारः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—१-६ त्रिष्टुप्; ७ शक्वरीगर्भाऽतिजगती॥

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः॥१॥
सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥२॥
यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम्।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥३॥
यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम्।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥४॥
यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम्।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥५॥
यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥६॥
ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन्।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः॥७॥

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मास्कन्दः॥ देवता—मन्युः॥ छन्दः—१, ३ त्रिष्टुप्; २, ४ भुरिक्त्रिष्टुप्; ५-७ जगती॥

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः॥१॥
अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व॥२॥
सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम्॥३॥

एकोऽ बहूनामसि मन्य ईड्डिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि॥४॥
विजेषकृदिन्द्रइवानवब्रवोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ॥५॥
आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि॥६॥
संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः।
भियो दधानाः हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्॥७॥

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मास्कन्दः॥ देवता—मन्युः॥ छन्दः—१ जगती; २-७ त्रिष्टुप्॥

यस्तेऽ मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥१॥
मन्युरिन्द्रोऽ मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः।
मन्युर्विशऽ ईडते मानुषीर्याः पाहि नोऽ मन्यो तपसा सजोषाः॥२॥
अभी हि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः॥३॥
त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामोऽ अभिमातिषाहः।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि॥४॥
अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि॥५॥
अयं तेऽ अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन्।
मन्योऽ वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूरुत बोध्यापेः॥६॥
अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव॥७॥

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥

अप॑ नः शोशुचद॒घमग्ने॑ शुशु॒ग्ध्या र॒यिम्। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥१॥
सु॒क्षे॒त्रिया सु॑गातु॒या व॑सू॒या च॑ यजामहे। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥२॥
प्र यद्भन्दि॑ष्ठ एषां॒ प्रास्माकाँ॑सश्च सू॒रयः॑। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥३॥
प्र यत्ते॑ अग्ने सू॒रयो॒ जाये॑महि॒ प्र ते॑ व॒यम्। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥४॥
प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥५॥
त्वं हि वि॑श्वतोमुख वि॒श्वतः॑ परि॒भूर॑सि। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥६॥
द्विषो॑ नो विश्वतोमुखाति॑ ना॒वेव॑ पारय। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥७॥
स नः॒ सिन्धु॑मिव ना॒वाति॑ पर्षा स्व॒स्तये॑। अप॑ नः शोशुचद॒घम्॥८॥

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—ब्रह्मौदनम्॥ छन्दः—१-३ त्रिष्टुप्; ४ भुरिक्त्रिष्टुप्; ५ सप्तपदाकृतिः; ६ पञ्चपदाऽतिशक्वरी; ७ पञ्चपदाभुरिक्शक्वरी; ८ जगती॥

ब्रह्मा॑स्य शी॒र्षं बृ॒हद॑स्य पृ॒ष्ठं वा॑मदे॒व्यमु॒दर॑मोद॒नस्य॑।
छन्दां॑सि प॒क्षौ मुख॑मस्य स॒त्यं वि॑ष्टा॒री जा॒तस्तप॒सोऽधि॑ य॒ज्ञः॥१॥
अ॒न॒स्थाः पू॒ताः पव॑नेन शु॒द्धाः शुच॑यः शु॒चि॒मपि॑ यन्ति लो॒कम्।
नैषां॑ शि॒श्नं प्र द॑हति जा॒तवे॑दाः स्व॒र्गे लो॒के ब॒हु स्त्रैण॑मेषाम्॥२॥
वि॒ष्टा॒रिण॑मोद॒नं ये पच॑न्ति॒ नैना॒नव॑र्तिः सचते कु॒दा च॒न।
आस्ते॑ य॒म उप॑ याति दे॒वान्त्सं ग॑न्ध॒र्वैर्म॑दते सो॒म्येभिः॥३॥
वि॒ष्टा॒रिण॑मोद॒नं ये पच॑न्ति॒ नैना॒न्यमः॑ परि॑ मुष्णाति॒ रेतः॑।
र॒थी ह॑ भू॒त्वा र॑थ॒याना॑ ईयते प॒क्षी ह॑ भू॒त्वाति॒ दिव॒ः सम॑ेति॥४॥
ए॒ष य॒ज्ञाना॑ं वित॑तो॒ वह॑िष्ठो विष्टा॒रिण॑ं प॒क्त्वा दि॒वमा वि॑वेश।
आ॒ण्डीकं॒ कुमु॑दं॒ सं त॑नोति॒ बिस॑ं शा॒लूकं॒ शफ॑को मु॒ला॒ली।
ए॒तास्त्वा॒ धारा॒ उप॑ यन्तु सर्वी॒ः स्व॒र्गे लो॒के म॒धु॒म॒त्पिन्व॑माना॒ उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क॒रिणी॒ः सम॑न्ताः॥५॥

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वीः स्वर्गे लोके
मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥६॥
चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वीः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु
पुष्करिणीः समन्ताः॥७॥
इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु॥८॥

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—प्रजापतिः॥ देवता—अतिमृत्युः॥ छन्दः—१, २, ५-७ त्रिष्टुप्; ३, ४ भुरिक्त्रिष्टुप्॥

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥१॥
येनातरन्भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन्तपसा श्रमेण।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥२॥
यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन।
यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥३॥
यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदरात्राः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥४॥
यः प्राणदः प्राणदवान्बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥५॥
यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥६॥
अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः॥७॥

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—चातनः॥ देवता—सत्यौजा अग्निः॥ छन्दः—१-८, १० अनुष्टुप्; ९ भुरिगनुष्टुप्॥

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा।
यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात्॥१॥
यो नो दिप्सदिदिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम्॥२॥
य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये।
क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे॥३॥
सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे।
सर्वान्दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम्॥४॥
ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम्।
नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे॥५॥
तप्तो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम्॥६॥
न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे॥७॥
यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते॥८॥
ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशकाइव।
तानहं मन्ये दुर्हितान्जने अल्पशयूनिव॥९॥
अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते॥१०॥

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—शुक्रः॥ देवता—जातवेदः; १ अग्निः; २ यमः; ३ वरुणः; ४ सोमः; ५ भूमिः; ६ वायुः; ७ सूर्यः; ८ ब्रह्म॥ छन्दः—१, ३-७ त्रिष्टुप्; २ जगती; ८ पुरोऽतिशक्वरीपाद्युग्जगती॥

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि॥१॥
ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि॥२॥
ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि॥३॥
य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि॥४॥
येऽधस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि॥५॥
येऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि॥६॥
य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेद ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि॥७॥
ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान्।
ब्रह्मत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि॥८॥

★ ★ ★

अथ पञ्चमं काण्डम्

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—बृहद्दिवोऽथर्वा॥ देवता—वरुणः॥ छन्द—१ पराबृहतीत्रिष्टुप्; २-६, ८ त्रिष्टुप्; ७ विराट्त्रिष्टुप्; ९ षट्पदाऽत्यष्टिः॥

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा।
अदब्धासुभ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि॥१॥
आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥२॥
यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोऽनु स्वाः।
अत्रा दधते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम्॥३॥
प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः सदःसद आतिष्ठन्तो अजुर्यम्।
कविः शुषस्य मातरा रिहाणे जाम्यै धुर्यं पतिमेरयेथाम्॥४॥
तदू षु ते महत्पृथुज्मन्नमः कविः काव्येना कृणोमि।
यत्सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते॥५॥
सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यं हुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥६॥
उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्वः स्तत्सुमद्गुः।
उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत्सचते हविर्दाः॥७॥
उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये।
दर्शन्नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आववर्त्ततः कृणवो वपूंषि॥८॥
अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर।
अविं वृधाम शम्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम्।
कविशस्तान्यस्मै वषूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा॥९॥

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—बृहद्दिवोऽथर्वा॥ देवता—वरुणः॥ छन्दः—१-८ त्रिष्टुप्; ९ भुरिक्पराति जागतात्रिष्टुप्॥

तदिदास॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यदे॑नं॒ मद॑न्ति॒ विश्व॒ ऊमाः॑॥१॥
वा॒वृ॒धा॒नः शव॑सा॒ भूयो॑जाः॒ शत्रु॑र्दा॒साय॑ भि॒यसं॑ दधाति।
अव्य॑नच्च व्य॒नच्च॒ सस्नि॒ सं ते॑ नवन्त॒ प्रभृ॑ता॒ मदे॑षु॥२॥
त्वे क्रतु॒मपि॑ पृञ्चन्ति॒ भूरि॒ द्विर्यदे॒ते त्रिर्भव॒न्त्यूमाः॑।
स्वा॒दोः॒ स्वादी॑यः॒ स्वा॒दुना॑ सृजा॒ सम॒दः॒ सु मधु॒ मधु॑ना॒भि यो॑धीः॥३॥
यदि॑ चि॒न्नु त्वा॒ धना॒ जय॑न्तं॒ रणे॑रणे॒ अनु॒मद॑न्ति॒ विप्राः॑।
ओजी॑यः शुष्मिन्ति॒स्थि॒रमा त॑नुष्व॒ मा त्वा॑ दभन्दु॒रेवा॑सः कु॒शोकाः॑॥४॥
त्वया॑ व॒यं शा॑शद्महे॒ रणे॑षु॒ प्रप॑श्यन्तो युधे॒न्या॑नि॒ भूरि॑।
चो॒दया॑मि॒ त॒ आयु॑धा॒ वचो॑भिः॒ सं ते॑ शिशामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वया॑सि॥५॥
नि तद्दधि॒षेऽव॑रे॒ परे॑ च॒ यस्मि॒न्नावि॒थाव॑सा दुरो॒णे।
आ स्था॑पयत मा॒तर॑ं जिग॒त्नुमत॑ इन्वत॒ कवे॑राणि॒ भूरि॑॥६॥
स्तु॒ष्व व॑र्ष्मन्पुरु॒वर्त्मा॑नं॒ समृभ्वा॑णमि॒नतम॑मा॒तमा॒प्त्याना॑म् ।
आ दर्श॑ति॒ शव॑सा॒ भूयो॑जाः॒ प्र स॑क्षति प्रति॒मान॑ं पृथि॒व्याः॥७॥
इ॒मा ब्रह्म॑ बृहद्दिवः कृणव॒दिन्द्रा॑य शूष॒मग्रि॑यः स्व॒र्षाः।
म॒हो गो॒त्रस्य॑ क्षयति स्व॒राजा॒ तुर॑श्चिद्विश्व॑मर्ण॒वत्त॑पस्वान्॥८॥
ए॒वा म॒हान्बृ॑हद्दिवो॒ अथ॒र्वावो॑चत्स्वां त॒न्व१॑मिन्द्र॑मे॒व।
स्वसा॑रौ मात॒रिभ्व॑री अ॒रिप्रे॑ हि॒न्वन्ति॑ चैने॒ शव॑सा व॒र्धय॑न्ति च॥९॥

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—बृहद्दिवोऽथर्वा॥ देवता—१, २ अग्निः; ३, ४ देवाः; ५ द्रविणोदादयः; ६, ९, १० विश्वेदेवाः; ७ सोमः; ८, ११ इन्द्रः॥ छन्दः—१, ३-९, ११ त्रिष्टुप्; २ भुरिक्त्रिष्टुप्; १० विराड्जगती॥

ममाग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्वस्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वया॑ध्य॑क्षेण पृत॑ना जयेम॥१॥
अग्ने॒ म॒न्युं प्र॑तिनु॒दन्पर॑ेषां॒ त्वं नो॑ गो॒पाः परि॑ पाहि वि॒श्वतः॑।
अपा॑ञ्चो यन्तु नि॒वता॑ दुर॒स्यवो॒ऽमैषां॑ चि॒त्तं प्र॒बुधां॑ वि॑ नैशत्॥२॥
मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु॒ सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः।
मम॒ान्तरि॑क्षमुरुलो॒कमस्तु॒ मह्यं॑ वा॒तः प॑वतां॒ काम॑ाया॒स्मै॥३॥
मह्यं॑ यजन्तां॒ मम॒ यानी॒ष्टाकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु।
एनो॒ मा नि गां॑ कत॒मच्च॒नाहं॑ विश्वे॑ दे॒वा अ॒भि र॑क्षन्तु मे॒ह॥४॥
मयि॑ दे॒वा द्र॑वि॒ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः।
दैवा होता॑रः सनिषन्न एतदरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॑ सु॒वीरा॑ः॥५॥
दैवी॑ः षड्वी॒रुरु नः॑ कृणोत॒ विश्वे॑ देवास इ॒ह मा॑दयध्वम्।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृजि॒ना द्वेष्या॒ या॥६॥
ति॒स्रो दे॑वी॒र्महि॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत प्र॒जायै॑ नस्तन्वे॒३॒॑ यच्च॑ पु॒ष्टम्।
मा हा॑स्महि प्र॒जया॒ मा त॒नूभि॒र्मा र॑धाम द्विष॒ते सो॑म राजन्॥७॥
उ॒रु॒व्यचा॑ नो महि॒षः शर्म॑ यच्छत्व॒स्मिन्हवे॑ पुरुहू॒तः पु॑रु॒क्षु।
स नः॑ प्र॒जायै॑ हर्यश्व मृडेन्द्र॒ मा नो॑ रीरिषो॒ मा पर॑ा दाः॥८॥
धा॒ता वि॑धा॒ता भुव॑नस्य॒ यस्पति॑र्दे॒वः स॑वि॒ताभि॑मातिषा॒हः।
आ॒दि॒त्या रु॒द्रा अ॒श्विनो॒भा दे॒वाः पा॑न्तु॒ यज॑मानं निर्ऋ॒थात्॥९॥
ये नः॑ स॒पत्ना॒ अप॒ ते भ॑वन्त्विन्द्रा॒ग्निभ्या॒मव॑ बाधामह एनान्।
आ॒दि॒त्या रु॒द्रा उ॑प॒रि॒स्पृशो॑ न उ॒ग्रं चे॒त्तार॑मधि॒राज॑मक्रत॥१०॥

अ॒र्वाञ्च॒मिन्द्र॑म॒मुतो॑ हवामहे॒ यो गो॒जिद्ध॑न॒जिद॑श्व॒जिद्यः।
इ॒मं नो॑ य॒ज्ञं वि॑ह॒वे शृ॑णोत्व॒स्माक॑मभूर्हर्यश्व मे॒दी॥११॥

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—वरुणः॥ छन्दः—१ भुरिक्त्रिष्टुप्; २, ४, ५, ७-१० त्रिष्टुप्; ३ पङ्क्तिः; ६ पञ्चपदाऽतिशक्वरी; ११ षट्पदाऽत्यष्टिः॥

क॒थं म॒हे असु॑रायाब्रवीरि॒ह क॒थं पि॒त्रे ह॑र्यये त्वे॒षनृ॑म्णः।
पृश्निं॑ वरुण॒ दक्षि॑णां दद॒वान्पु॑नर्मघ॒ त्वं मन॑सा चिकित्सीः॥१॥
न कामे॑न॒ पुन॑र्मघो भवामि॒ सं च॑क्षे॒ कं पृश्नि॑मे॒तामु॑पा॒जे।
केन॒ नु त्वम॑थर्व॒न्काव्ये॑न॒ केन॑ जा॒तेना॑सि जा॒तवे॑दाः॥२॥
स॒त्यम॒हं ग॑भी॒रः काव्ये॑न स॒त्यं जा॒तेना॑स्मि जा॒तवे॑दाः।
न मे॑ दा॒सो नार्यो॑ महि॒त्वा व्र॒तं मी॑माय॒ यद॒हं ध॑रि॒ष्ये॥३॥
न त्वद॒न्यः क॒वित॑रो॒ न मे॒धया॒ धीर॑तरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा॒ भुव॑नानि वेत्थ॒ स चि॒न्नु त्वज्जनो॑ मा॒यी बि॑भाय॥४॥
त्वं ह्य१॑ङ्ग॑ व॑रुण स्वधाव॒न्विश्वा॒ वेत्थ॒ जनि॑मा सुप्रणीते।
किं रज॑स एना॒ प॒रो अ॒न्यद॑स्त्ये॒ना किं प॑रे॒णाव॑रममुर॥५॥
एक॑ं रज॑स एना॒ प॒रो अ॒न्यद॑स्त्ये॒ना प॒र एके॑न दु॒र्णशं॑ चिद॒र्वाक्।
तत्ते॑ विद्वान्व॑रुण॒ प्र ब्र॑वीम्यधोव॑चसः॒ प॒णयो॑ भवन्तु नी॒चैर्दा॑सा उ॒प स॑र्पन्तु॒ भूमि॑म्॥६॥
त्वं ह्य१॑ङ्ग॑ व॑रुण॒ ब्रवी॑षि॒ पुन॑र्मघेष्ववद्या॒नि भूरि॑।
मो षु प॒णी॑र॒भ्ये३॑ तावतो॒ भून्मा त्वा॑ वोचन्नरा॒धस॑ं जना॑सः॥७॥
मा मा॑ वोचन्नरा॒धस॑ं जना॑स॒ः पुन॑स्ते॒ पृश्नि॑ं जरितर्ददामि।
स्तो॒त्रं मे॒ विश्व॒मा या॑हि॒ शची॑भि॒र॒न्तर्विश्वा॑सु मानु॒षीषु॒ दि॒क्षु॥८॥
आ ते॑ स्तो॒त्राण्यु॒द्यता॑नि यन्त्व॒न्तर्विश्वा॑सु मानु॒षीषु॒ दि॒क्षु।
दे॒हि नु मे॒ यन्मे॒ अद॑त्तो॒ असि॒ युज्यो॑ मे स॒प्तप॑द॒ः सखा॑सि॥९॥
स॒मा नौ॒ बन्धु॑र्वरुण स॒मा जा वेदा॒हं तद्यन्ना॒वेषा॒ स॒मा जा।
ददा॑मि॒ तद्यत्ते॒ अद॑त्तो॒ अस्मि॒ युज्य॑स्ते स॒प्तप॑द॒ः सखा॑स्मि॥१०॥

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम्।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः॥११॥

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—मधुला ओषधिः॥ छन्दः—१-३, १०, ११ निचृदनुष्टुप्; ४ पुरस्ताद्बृहती; ५, ७-९ अनुष्टुप्; ६ स्वराडनुष्टुप्॥

एका च मे दश च मेऽपवक्तारः ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥१॥
द्वे च मे विंशतिश्च मेऽपवक्तारः ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥२॥
तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तारः ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥३॥
चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवक्तारः ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥४॥
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवक्तारः ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥५॥
षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवक्तारः ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥६॥
सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽपवक्तारः ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥७॥
अष्ट च मेऽशीतिश्च मेऽपवक्तारः ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥८॥
नव च मे नवतिश्च मेऽपवक्तारः ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥९॥
दश च मे शतं च मेऽपवक्तारः ओषधे।

ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥१०॥
शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥११॥

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—एकवृषः॥ छन्द—१, ४, ५, ७-१० *द्विपदासाम्न्युष्णिक्;* २, ३, ६ *द्विपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्;* ११ *द्विपदाऽऽसुरीगायत्री॥*

यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि॥१॥
यदि द्विवृषोऽसि सृजारसोऽसि॥२॥
यदि त्रिवृषोऽसि सृजारसोऽसि॥३॥
यदि चतुर्वृषोऽसि सृजारसोऽसि॥४॥
यदि पञ्चवृषोऽसि सृजारसोऽसि॥५॥
यदि षड्वृषोऽसि सृजारसोऽसि॥६॥
यदि सप्तवृषोऽसि सृजारसोऽसि॥७॥
यद्यष्टवृषोऽसि सृजारसोऽसि॥८॥
यदि नववृषोऽसि सृजारसोऽसि॥९॥
यदि दशवृषोऽसि सृजारसोऽसि॥१०॥
यद्येकादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि॥११॥

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—मयोभूः॥ देवता—ब्रह्मजाया॥ छन्दः—१-६ त्रिष्टुप्; ७-१८ अनुष्टुप्॥

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य॥१॥
सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदह्णीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय॥२॥

हस्तेनैव ग्राह्य ऽआधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत्।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥३॥
यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्रामंमवपद्यमानाम्।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान्॥४॥
ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः॥५॥
देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥६॥
ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद्यच्चापलुप्यते।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान्॥७॥
उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा॥८॥
ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः।
तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥९॥
पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥१०॥
पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते॥११॥
नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥१२॥
न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन्वेश्मनि जायते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥१३॥
नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥१४॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥१५॥

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्।
यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥१६॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति ये ऽस्या दोहमुपासते।
यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥१७॥
नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया॥१८॥

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—मयोभूः॥ देवता—ब्रह्मगवी॥ छन्द—१-३,६, ७, १०-१२, १४, १५ अनुष्टुप्; ४ भुरिक्त्रिष्टुप्; ५, ८, ९, १३ त्रिष्टुप्॥

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्॥१॥
अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः॥२॥
आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या॥३॥
निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य॥४॥
य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम्॥५॥
न ब्राह्मणो हिंसितव्यो ३ऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥६॥
शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन्।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्वीति मन्यते॥७॥
जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ् नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः॥८॥

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हैतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम्॥९॥
ये सहस्रमराजन्नासन्दशशता उत।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्॥१०॥
गौरेव तान्हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत्।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन्॥११॥
एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन्॥१२॥
देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्॥१३॥
अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद्वेधसो विदुः॥१४॥
इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः॥१५॥

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—१ सविता; २ अग्निः; ३ द्यावापृथिवी; ४ वरुणः; ५ मित्रावरुणौ; ६ मरुतः; ७ सोमः; ८ वायुः; ९ सूर्यः; १० चन्द्रमाः; ११ इन्द्रः; १२ मरुतां पिता; १३ मृत्युः; १४ यमः; १५ पितरः; १६ ताताः; १७ ततस्तामहाः॥ छन्दः—१-१०, १२-१४ अतिशक्वरी; ११ शक्वरी; १५, १६ त्रिपदाभुरिग्- जगती; १७ त्रिपदाविराट्शक्वरी॥

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥१॥
अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्यां॒मस्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ २॥
द्यावा॑पृथिवी दा॒तॄ॒णामधि॑पत्नी॒ ते मा॑वताम्।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चित्त्यां॒मस्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ ३॥
वरु॑णो॒ऽपामधि॑पति॒ः स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चित्त्यां॒मस्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ ४॥
मि॒त्रावरु॑णौ वृ॒ष्ट्याधि॑पती॒ तौ मा॑वताम्।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चित्त्यां॒मस्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ ५॥
म॒रु॒तः॒ पर्व॑ता॒नामधि॑पतय॒स्ते मा॑वन्तु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चित्त्यां॒मस्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ ६॥
सोमो॑ वी॒रुधा॒मधि॑पति॒ः स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चित्त्यां॒मस्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ ७॥
वा॒युर॒न्तरि॑क्ष॒स्याधि॑पति॒ः स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चित्त्यां॒मस्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ ८॥
सूर्य॑श्चक्षु॒षा॒मधि॑पति॒ः स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चित्त्यां॒मस्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ ९॥
च॒न्द्रमा॒ नक्ष॑त्राणा॒मधि॑पति॒ः स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चित्त्यां॒मस्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ १०॥
इन्द्रो॑ दि॒वो॑ऽधि॑पति॒ः स मा॑वत।

अ॒स्मिन्ब्रह्मण्य॒स्मिन्क्षत्र॑ऽण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां चित्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्याम॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥११॥
म॒रुतां॑ पि॒ता प॑शू॒नामधि॑पति॒ः स मा॑वतु ।
अ॒स्मिन्ब्रह्मण्य॒स्मिन्क्षत्र॑ऽण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां चित्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्याम॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥१२॥
मृ॒त्युः प्र॒जाना॒मधि॑पति॒ः स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्मण्य॒स्मिन्क्षत्र॑ऽण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां चित्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्याम॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥१३॥
य॒मः पि॑तॄ॒णामधि॑पति॒ः स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्मण्य॒स्मिन्क्षत्र॑ऽण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां चित्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्याम॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥१४॥
पि॒तर॒ः परे॒ ते मा॑वन्तु।
अ॒स्मिन्ब्रह्मण्य॒स्मिन्क्षत्र॑ऽण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां चित्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्याम॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥१५॥
त॒ता अव॑रे॒ ते मा॑वन्तु।
अ॒स्मिन्ब्रह्मण्य॒स्मिन्क्षत्र॑ऽण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां चित्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्याम॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥१६॥
तत॑स्तताम॒हास्ते मा॑वन्तु।
अ॒स्मिन्ब्रह्मण्य॒स्मिन्क्षत्र॑ऽण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां चित्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्याम॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥१७॥

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—१ अग्निः; २ सविता; ३, ११ इन्द्रः; ४ निविदः; ५ मरुतः; ६ अदितिः; ७ विष्णुः; ८ त्वष्टाः; ९ भगः; १० सोमः; १२ अश्विनौ, बृहस्पतिः॥ छन्दः—१, ५ द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक्; २, ४, ६-८, १०, ११ द्विपदाप्राजापत्याबृहती; ३

त्रिपदाविराड्गायत्री; ९ त्रिपदापिपीलिकामध्यापुरउष्णिक्; [एता एकावसानाः] १२ परातिशक्वरीचतुष्पदाजगती॥

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वौ युनक्तु॥१॥
युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन्यज्ञे महिषः स्वाहा॥२॥
इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा॥३॥
प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः॥४॥
छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः॥५॥
एयमगन्बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा॥६॥
विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा॥७॥
त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा॥८॥
भगौ युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा॥९॥
सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा॥१०॥
इन्द्रौ युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा॥११॥
अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ।
बृहस्पते ब्रह्मणा यार्ह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्व ऋिदं यजमानाय स्वाहा॥१२॥

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—त्रिवृत्, अग्न्यादयः॥ छन्दः—१-५, ८, ११, १४ त्रिष्टुप्; ६ पञ्चपदाऽतिशक्वरी; ७, ९, १०, १२ ककुम्मत्यनुष्टुप्; १३ पुरउष्णिक्॥

नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि॥१॥
अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु॥२॥
त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम्॥३॥

इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येण्यस्मिन्त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णु॥४॥
भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृद्रग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम्॥५॥
त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत्ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे॥६॥
त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम्॥७॥
त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा॥८॥
दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात्त्वा पात्वर्जुनम्।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद्देवपुरा अयम्॥९॥
इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः।
तास्त्वं बिभ्रद्वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव॥१०॥
पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे॥११॥
आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः।
अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि॥१२॥
ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा। संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि॥१३॥
घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु।
भिन्दन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय॥१४॥

★★★

अथ षष्ठं काण्डम्

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—गर्भदृंहणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा तै ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥१॥
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन्।
एवा तै ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥२॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान्गिरीन्।
एवा तै ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥३॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवा तै ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥४॥

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१ अनुष्टुप्; २, ३ गायत्री॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पर्वमानः पुनातु मा॥१॥
पर्वमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥२॥
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। अस्मान्पुनीहि चक्षसे॥३॥

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—१ सोमः; २ आपः; ३ वरुणः॥ छन्दः—१ गायत्री; २ त्रिष्टुप्; ३ जगती॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥१॥
आपो अस्मान्मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि॥२॥

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरन्ति।
अचित्त्या चेत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥३॥

[११५] पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः॥१॥
यदि जाग्रद्यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥२॥
द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः॥३॥

[११७] सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कौशिकः (अनृणकामः)॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान्विचृतं वेत्थ सर्वान्॥१॥
इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्।
अपमित्य धान्यं१ यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥२॥
अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा आ क्षियेम॥३॥

[१३३] त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः॥ देवता—मेखला॥ छन्दः—१ भुरिक्त्रिष्टुप्; २, ५ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप्; ४ जगती॥

य इ॒मां दे॒वो मेख॑लामाब॒बन्ध॒ यः सं॑न॒नाह॒ य उ॑ नो युयोज॑।
यस्य॑ दे॒वस्य॑ प्र॒शिषा॒ चरा॑मः स पा॒रमि॑च्छा॒त्स उ॑ नो॒ वि मु॑ञ्चात्॥१॥
आहु॑तास्य॒भिहु॑त ऋषी॒णाम॒स्यायु॑धम्।
पू॒र्वी व्र॒तस्य॑ प्राश्न॒ती वी॒र्घ्नी भ॑व मेखले॥२॥
मृ॒त्योर॒हं ब्र॑ह्मचा॒री यदस्मि॑ नि॒र्याच॑न्भू॒तात्पु॑रु॒षं य॒माय॑।
तम॒हं ब्र॒ह्मणा॒ तप॑सा॒ श्रमे॑णा॒नयै॑नं मेख॒लया॑ सिनामि॥३॥
श्र॒द्धाया॑ दुहि॒ता तप॒सोऽधि॑ जा॒ता स्वस॒ ऋषी॑णां भूत॒कृता॑ ब॒भूव॑।
सा नो॑ मेखले म॒तिमा धे॑हि मे॒धामथो॑ नो धेहि॒ तप॑ इन्द्रि॒यं च॑॥४॥
यां त्वा॒ पूर्वे॑ भूत॒कृत॒ ऋष॑यः परिबेधि॒रे।
सा त्वं परि॑ ष्वजस्व॒ मां दी॑र्घायु॒त्वाय॑ मेखले॥५॥

★★★

अथ सप्तमं काण्डम्

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)॥ देवता—अदितिः॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप्; २ भुरिक्त्रिष्टुप्; ३, ४ विराड्जगती॥

अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥१॥
महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥२॥
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥३॥
वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्या उपस्थ उर्वन्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात्॥४॥

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—शौनकः॥ देवता—सरस्वती॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः॥१॥

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः॥ देवता—विष्णुः॥ छन्दः—१, ८ त्रिष्टुप्; २ त्रिपदाविराड्गायत्री; ३ षट्पदाविराट्शक्वरी; ४-७ गायत्री॥

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥१॥
प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
परावत आ जगम्यात्परस्याः॥२॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर॥३॥
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा। समूढमस्य पांसुरे॥४॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। इतो धर्माणि धारयन्॥५॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥६॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥७॥
दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात्॥८॥

[५०] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१, २, ५, ८, ९ अनुष्टुप्; ३, ७ त्रिष्टुप्; ४ जगती; ६ भुरिक्त्रिष्टुप्॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद्भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित्॥८॥

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—अङ्गिराः॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु॥१॥

★★★

अथाष्टमं काण्डम्

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आयुः॥ छन्दः—१ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; २, ३, १७-२१ अनुष्टुप्; ४, ९, १५, १६ प्रस्तारपङ्क्तिः; ५, ६, १०, ११ त्रिष्टुप्; ७ त्रिपाद्विराड्बृहत्यनुष्टुप्; ८ विराट्पथ्याबृहती; १२ पञ्चपदाजगती; १३ त्रिपदाभुरिग्महाबृहती; १४ द्विपदासाम्नीभुरिग्बृहती॥

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥१॥
उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान्।
उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥२॥
इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।
उत्त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि॥३॥
उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्बीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः॥४॥
तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः॥५॥
उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥६॥
मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानुगाः पितॄन्। विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह॥७॥
मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे॥८॥
श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥९॥
मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।
तम एतत्पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्॥१०॥

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्वन्ता रक्षतु त्वा मनुष्या यमिन्धते।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग्विद्युता सह॥११॥
मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात्संकसुकाच्चर।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः॥१२॥
बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥१३॥
ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा॥१४॥
जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता ददधातु सविता त्रायमाणः।
मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि॥१५॥
मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कुथा स्याः।
उत्त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥१६॥
उत्त्वा द्यौरुत्पृथिव्युत्प्रजापतिरग्रभीत्।
उत्त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन्॥१७॥
अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः। इमं सहस्त्रवीर्येण मृत्योरुत्पारयामसि॥१८॥
उत्त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो मा त्वाघरुदो रुदन्॥१९॥
आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम्॥२०॥
व्य वात्ते ज्योतिरभूदप त्वत्तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि॥२१॥

★★★

अथ नवमं काण्डम्

[६] षष्ठं सूक्तम्, प्रथमः पर्यायः

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अतिथिः, विद्या॥ छन्दः—१ नागीनामत्रिपदागायत्री; २ त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री; ३, ७ साम्नीत्रिष्टुप्; ४, ९ आर्च्यनुष्टुप्; ५ आसुरीगायत्री; ६ त्रिपदासाम्नीजगती; ८ याजुषीत्रिष्टुप्; १० साम्नीभुरिग्बृहती; ११, १४-१६ साम्न्यनुष्टुप्; १२ विराड्-गायत्री; १३ साम्नीनिचृत्पङ्क्तिः; १७ त्रिपदाभुरिग्विराड्गायत्री॥

यो वि॒द्याद् ब्रह्म॑ प्र॒त्यक्षं॑ पर॒ऊषि॒ यस्य॑ संभा॒रा ऋचो॒ यस्या॑नू॒क्य॑म्॥१॥
साम॑ानि॒ यस्य॒ लोमा॑नि॒ यजु॒र्हृद॑यमुच्यते॑ परि॒स्तर॑ण॒मिद्ध॒विः॥२॥
यद्वा अति॑थिपति॒रति॑थीन्प्रति॒पश्य॑ति देव॒यज॑नं॒ प्रेक्ष॑ते॥३॥
यद॑भि॒वद॑ति दी॒क्षामु॒पैति॒ यदु॒दकं॑ याच॑त्यु॒पः प्र ण॑यति॥४॥
या एव यज्ञ आप॑ः प्रणी॒यन्ते॒ ता एव ताः॥५॥
यत्तप॑ण॒मा॒हर॑न्ति॒ य एवाग्नी॒षो॒मीय॑ः प॒शुर्ब॑ध्यते॒ स एव सः॥६॥
यदा॑व॒सथा॒न्क॒ल्पय॑न्ति॒ सदो॑हविर्धा॒नान्ये॒व तत्क॑ल्पयन्ति॥७॥
यदु॑प॒स्तृ॒णन्ति॑ ब॒र्हिरे॒व तत्॥८॥
यदु॑परिशय॒न॒मा॒हर॑न्ति स्व॒र्गमे॒व तेन॑ लो॒कमव॑ रुन्द्धे॥९॥
यत्क॑शिपूपबर्हणमा॒हर॑न्ति परि॒धय॑ एव ते॥१०॥
यदा॑ञ्जनाभ्यञ्ज॒न॒मा॒हर॒न्त्याज्य॑मे॒व तत्॥११॥
यत्पु॒रा प॑रिवे॒षात्खा॒द॒मा॒हर॑न्ति पुरो॒डाशा॑वे॒व तौ॥१२॥
यद॑शन॒कृ॒तं ह्व॒य॒न्ति ह॒वि॒षकृ॑त॒मे॒व तद्ध्व॑यन्ति॥१३॥
ये व्री॒हय॒ो यवा॑ निरु॒प्यन्ते॑ऽशव॑ एव ते॥१४॥
यान्यु॑लूखलमु॒स॒लानि॒ ग्रावा॑ण एव ते॥१५॥
शूर्प॑ं॒ प॒वित्रं॒ तुषा॑ ऋजी॒षाभि॒षव॑णीरापः॥१६॥
स्रुग्दर्वि॒र्नेक्ष॑णमा॒यव॑नं द्रोणकल॒शाः कु॒म्भ्यो ऽवा॑य॒व्या॑नि॒ पात्रा॑णी॒यमे॒व कृ॑ष्णाजिनम्॥१७॥

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आदित्यः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—१-११, १३, १५, १७, १९-२२ त्रिष्टुप्; १२, १४, १६, १८ जगती॥

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥१॥
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥२॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा॥३॥
को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्॥४॥
इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥५॥
पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥६॥
अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्वनो न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥७॥
माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥८॥
युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥९॥
तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम्॥१०॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः॥११॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥१२॥
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥१३॥
सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा॥१४॥
स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्॥१५॥
साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥१६॥
अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन्॥१७॥
अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥१८॥
ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति॥१९॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥२०॥
यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥२१॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥२२॥

★ ★ ★

अथ दशमं काण्डम्

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् (३१, ३२ साक्षात् ब्रह्मप्रकाशिन्यौ) ॥ छन्दः—१-४, ७, ८ त्रिष्टुप्; ५, ९, १०, १२-२७, २९-३३ अनुष्टुप्; ६, ११ जगती; २८ भुरिग्बृहती॥

केन॒ पाष्णीं॑ आभृ॑ते पूरु॑षस्य॒ केन॑ मां॒सं संभृ॑तं॒ केन॑ गु॒ल्फौ।
केना॑ङ्गुली॒ः पेश॑नी॒ः केन॒ खानि॒ केनो॑च्छ्ल॒ङ्घौ म॑ध्य॒तः कः प्र॑ति॒ष्ठाम्॥१॥
कस्मा॒न्नु गु॒ल्फावध॑रावकृण्वन्नष्ठी॒वन्ता॒वुत्त॑रौ पूरु॑षस्य।
जङ्घे॑ नि॒र्ऋत्य॒ न्य॑दधुः क्व॑स्विज्जानु॒नोः स॒न्धी क उ॒ तच्चि॑केत॥२॥
चतु॑ष्टयं युज्यते॒ संहि॑तान्तं जानु॒भ्यामू॒र्ध्वं शिथि॑रं कब॒न्धम्।
श्रोणी॒ यदू॒रू क उ॒ तज्जा॑न॒ याभ्यां॒ कुसि॑न्धं॒ सुदृ॑ढं ब॒भूव॑॥३॥
कति॑ दे॒वाः क॑त॒मे त आस॒न्य उरो॑ ग्री॒वाश्चि॒क्युः पूरु॑षस्य।
कति॒ स्तनौ॒ व्य॑दधुः कः क॑फो॒डौ कति॑ स्कु॒न्धान्कति॑ पृ॒ष्टीर॑चिन्वन्॥४॥
को अ॑स्य बा॒हू सम॑भरद्वी॒र्यं॑ करवा॒दिति॑।
अंसौ॒ को अ॑स्य॒ तद्दे॒वः कुसि॑न्धे॒ अध्या द॑धौ॥५॥
कः स॒प्त खानि॒ वि त॑तर्द शी॒र्षणि॒ कर्णा॑वि॒मौ नासि॑के॒ चक्षि॑णी॒ मुख॑म्।
येषां॑ पुरु॒त्रा वि॑ज॒यस्य॑ म॒ह्मनि॒ चतु॑ष्पादो द्वि॒पदो॒ यन्ति॒ याम॑म्॥६॥
हन्वो॒र्हि जि॒ह्वाम॑दधात्पुरू॒चीमध॑ा म॒हीमधि॑ शिश्राय॒ वाच॑म्।
स आ व॑रीवर्ति॒ भुव॑नेष्व॒न्तर॒पो वसा॑नः क उ॒ तच्चि॑केत॥७॥
म॒स्तिष्क॑मस्य यत॒मो ल॒लाटं॑ क॒काटि॑कां प्रथ॒मो यः क॒पाल॑म्।
चि॒त्वा चित्यं॑ हन्वो॒ः पूरु॑षस्य॒ दिवं॑ रुरोह कत॒मः स दे॒वः॥८॥
प्रि॒या॒प्रि॒याणि॑ बहु॒ला स्वप्नं॑ संबाधत॒न्द्र्च॑यः।
आ॒न॒न्दानु॒ग्रो नन्दां॑श्च॒ कस्मा॒द्वहति॒ पूरु॑षः॥९॥
आर्ति॒रव॑ति॒र्निर्ऋ॑ति॒ः कुतो॒ नु पुरु॑षेऽ म॑तिः।
राद्धिः॑ सम्ऋ॒द्धिर॑व्यृ॒द्धिर्म॒तिरुदि॑तय॒ः कुत॑ः॥१०॥

को अस्मिन्नापो व्यदधाद्विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥११॥
को अस्मिन्रूपमदधात्को महानं च नाम च।
गातुं को अस्मिन्कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे॥१२॥
को अस्मिन्प्राणमवयत्को अपानं व्यानम्।
समानमस्मिन्को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे॥१३॥
को अस्मिन्यज्ञमदधादेकौ देवोऽधि पूरुषे।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम्॥१४॥
को अस्मै वासः पर्यदधात्को अस्यायुरकल्पयत्।
बलं को अस्मै प्रायच्छत्को अस्याकल्पयज्जवम्॥१५॥
केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद्रुचे।
उषसं केनान्वैन्द्ध केनं सायंभवं ददे॥१६॥
को अस्मिन्नेतो न्यदधात्तन्तुरा तायतामिति।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत्को बाणं को नृतौ दधौ॥१७॥
केनेमां भूमिमौर्णोत्केन पर्यभवद्दिवम्।
केनाभि मह्ना पर्वतान्केन कर्माणि पूरुषः॥१८॥
केनं पर्जन्यमन्वैति केन सोमं विचक्षणम्।
केनं यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन्निहितं मनः॥१९॥
केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम्।
केनेममग्निं पूरुषः केनं संवत्सरं ममे॥२०॥
ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्मं संवत्सरं ममे॥२१॥
केनं देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः।
केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत्क्षत्रमुच्यते॥२२॥
ब्रह्मं देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः।
ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते॥२३॥
केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥२४॥

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ २५॥
मूर्धानमस्य संसीव्यार्थर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥ २६॥
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ २७॥
ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुषआ बभूवाँ३।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ २८॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥ ३३॥

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—१ विराड्जगती; २, ८ भुरिक् त्रिष्टुप्; ३-६, ९, ३८, ४२, ४३ त्रिष्टुप्; ७, १३ परोष्णिक्; १०, १४, १६, १८, १९ उपरिष्टाद्बृहती; ११, १२, १५, २०, २२, ३९ उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती; १७ षट्पदाजगती; २१ बृहतीगर्भानुष्टुप्; २३-३०, ३७, ४० अनुष्टुप्; ३१ मध्येज्योतिर्जगती; ३२, ३४, ३६ उपरिष्टाद्विराड्बृहती; ३३ पराविराडनुष्टुप्; ३५ चतुष्पदाजगती; ४१ आर्षीत्रिपदागायत्री; ४४ द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप् पञ्चपदानिचृत्पदपङ्क्तिर्वा (एकावसाना)॥

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे ऋतमस्याध्याहितम्।
क्व ऽ व्रतं क्व ऽ श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम्॥१॥
कस्मादङ्गादीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात्पवते मातरिश्वा।
कस्मादङ्गाद्वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम्॥२॥
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः॥३॥
क्व१ प्रेप्सन्दीप्यत ऊध्वो अग्निः क्व१ प्रेप्सन्पवते मातरिश्वा।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥४॥
क्वा ऽ र्धमासाः क्व ऽ यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥५॥
क्व१ प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥६॥
यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥७॥
यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद्बभूव॥८॥
कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र॥९॥
यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥१०॥
यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥११॥
यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥१२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥१३॥

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥१४॥
यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥१५॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥१६॥
ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः॥१७॥
यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥१८॥
यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥१९॥
यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥२०॥
असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते॥२१॥
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥२२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ॥२३॥
यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्॥२४॥
बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गे स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः॥२५॥
यत्र स्कम्भः प्रजनयन्पुराणं व्यवर्तयत्।
एकं तदङ्गे स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः॥२६॥

यस्य॒ त्रय॑स्त्रिंशद्दे॒वा अङ्गे॒ गात्रा॑ विभेजिरे।
तान्वै त्रय॑स्त्रिंशद्दे॒वानेके॑ ब्रह्म॒विदो॑ विदुः॥२७॥
हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भं प॑र॒मम॑नत्युद्यं जना॑ विदुः।
स्क॒म्भस्तदग्रे॒ प्रासि॑ञ्च॒द्धिर॑ण्यं लो॒के अ॑न्त॒रा॥२८॥
स्क॒म्भे लो॒काः स्क॒म्भे तप॑ः स्क॒म्भेऽध्यृ॑तमाहि॑तम्।
स्कम्भं॑ त्वा वेद प्र॒त्यक्ष॒मिन्द्रे॒ सर्वं॑ स॒माहि॑तम्॥२९॥
इन्द्रे॑ लो॒का इन्द्रे॒ तप॒ इन्द्रेऽध्यृ॑तमाहि॑तम्।
इन्द्रं॑ त्वा वेद प्र॒त्यक्षं॑ स्क॒म्भे सर्वं॒ प्रति॑ष्ठितम्॥३०॥
नाम॒ नाम्ना॑ जोहवीति पु॒रा सूर्या॑त्पु॒रोष॑सः।
यद॒जः प्र॑थ॒मं सं॑बभूव॒ स ह॒ तत्स्व॒राज्य॑मियाय॒ यस्मा॒न्नान्यत्पर॒मस्ति॑ भू॒तम्॥३१॥
यस्य॒ भूमिः॒ प्र॒मान्तरि॑क्षमु॒तोद॑रम्।
दिव॑ं॒ यश्च॒क्रे मू॒र्धान॑ं॒ तस्मै॒ ज्येष्ठा॑य॒ ब्रह्म॑णे॒ नम॑ः॥३२॥
यस्य॒ सूर्य॑श्चक्षु॒श्च॒न्द्रमा॑श्च॒ पुन॑र्णवः।
अ॒ग्निं यश्च॒क्र आ॒स्य॑ं॑ तस्मै॒ ज्येष्ठा॑य॒ ब्रह्म॑णे॒ नम॑ः॥३३॥
यस्य॒ वात॑ः प्राणापा॒नौ चक्षु॑रङ्गि॒र॒सोऽभ॑वन्।
दिशो॒ यश्च॒क्रे प्र॒ज्ञानी॒स्तस्मै॒ ज्येष्ठा॑य॒ ब्रह्म॑णे॒ नम॑ः॥३४॥
स्क॒म्भो दा॑धार॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे स्क॒म्भो दा॑धारो॒र्व॑ं॑न्तरि॑क्षम्।
स्क॒म्भो दा॑धार प्र॒दिश॒ः षड॒ुर्वी॑ः स्क॒म्भ इ॒दं विश्व॑ं भुव॒न॒मा वि॑वेश॥३५॥
यः श्रमा॒त्तप॑सो जा॒तो लो॒कान्त्सर्वा॑न्त्समान॒शे।
सोम॒ं यश्च॒क्रे केव॑लं॒ तस्मै॒ ज्येष्ठा॑य॒ ब्रह्म॑णे॒ नम॑ः॥३६॥
क॒थं वातो॒ नेल॑यति क॒थं न र॑मते॒ मन॑ः।
किमाप॑ः स॒त्यं प्रेप्स॑न्ती॒र्नेल॑यन्ति क॒दा च॒न॥३७॥
म॒हद्य॒क्षं भुव॑नस्य॒ मध्ये॒ तप॑सि क्रा॒न्तं स॑लि॒लस्य॑ पृ॒ष्ठे।
तस्मि॑ञ्छ्रयन्ते॒ य उ॒ के च॑ दे॒वा वृ॒क्षस्य॒ स्कन्धः॑ प॒रित॑इव॒ शाखा॑ः॥३८॥
यस्मै॒ हस्ता॑भ्यां॒ पादा॑भ्यां वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ चक्षु॑षा।
यस्मै॑ दे॒वाः सदा॑ ब॒लिं प्र॒यच्छ॑न्ति॒ विमि॒तेऽमि॑तं स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः॥३९॥

अप॒ तस्य॑ ह॒तं तमो॒ व्यावृ॑त्तः स पा॒प्मना॑।
सर्वा॑णि॒ तस्मि॒ञ्ज्योती॑ꣳषि यानि॒ त्रीणि॑ प्र॒जाप॑तौ॥४०॥
यो वे॒तसं॑ हिर॒ण्ययं॒ तिष्ठ॑न्तं सलि॒ले वेद॑। स वै गुह्यः॑ प्र॒जाप॑तिः॥४१॥
त॒न्त्रमेके॑ युव॒ती विरू॑पे अभ्या॒क्रामं॑ वयत॒ः षण्म॑यूखम्।
प्रान्या तन्तूँ॒स्ति॒रते॑ ध॒त्ते अ॒न्या नाप॑ वृञ्जाते॒ न गमा॑तो॒ अन्त॑म्॥४२॥
तयो॑र॒हं प॑रि॒नृत्य॑न्त्योरिव॒ न वि जा॑नामि यत॒रा प॒रस्ता॑त्।
पुमा॑नेनद्वय॒त्युद् गृ॑णत्ति॒ पुमा॑नेनद्वि॒ जभा॑राधि॒ नाके॑॥४३॥
इ॒मे म॒यूखा॒ उप॑ तस्तभुर्दिवं॒ सामा॑नि चक्रु॒स्तस॑राणि॒ वात॑वे॥४४॥

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्सः॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—१ उपरिष्टाद्विराड्बृहती; २ बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्; ३, ४, ८, ९, १३, १६-१८, २४, २८, ३५, ३६, ४०, ४४ त्रिष्टुप्; ५ भुरिगनुष्टुप्; ६, १४, १९-२१, २३, २५, २९, ३१-३४, ३७, ३८, ४१, ४३ अनुष्टुप्; ७ पराबृहतीत्रिष्टुप्; १० अनुष्टुब्गर्भात्रिष्टुप्; ११ जगती; १२ पुरोबृहतीत्रिष्टुब्गर्भा— र्षीपङ्क्तिः; १५, २७ भुरिग्बृहती; २२ पुरउष्णिक्; २६ द्व्यष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्; ३० भुरिक्त्रिष्टुप्; ३९ बृहतीगर्भात्रिष्टुप्; ४२ त्रिपदाविराड्गायत्री॥

यो भू॒तं च॒ भव्यं॑ च॒ सर्वं॒ यश्चा॑धि॒तिष्ठ॑ति।
स्व१॑र्यस्य॑ च॒ केव॑लं॒ तस्मै॒ ज्येष्ठा॑य॒ ब्रह्म॑णे॒ नमः॑॥१॥
स्क॒म्भेने॒मे वि॒ष्टभि॑ते॒ द्यौश्च॒ भूमि॑श्च तिष्ठतः।
स्क॒म्भ इ॒दं सर्वं॑मात्म॒न्वद्यत्प्रा॒णन्नि॑मि॒षच्च॒ यत्॥२॥
ति॒स्रो ह॑ प्र॒जा अ॑त्या॒यमा॑य॒न्न्य१॑न्या अ॒र्कम॒भितो॑ऽविशन्त ।
बृ॒हन्ह॑ तस्थौ॒ रज॑सो वि॒मानो॒ हरि॑तो॒ हरि॑णीरा॒ विवे॑श॥३॥
द्वाद॑श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत।
तत्राह॑ता॒स्त्रीणि॑ श॒तानि॑ शङ्कवः॒ ष॒ष्टिश्च॒ खीला॒ अवि॑चाचला॒ ये॥४॥
इ॒दं स॑वि॒तर्वि जा॑नीहि॒ षड्यमा एक॑ एक॒जः।
तस्मि॑न्हापि॒त्वमि॑च्छन्ते॒ य ए॑षा॒मेक॑ एक॒जः॥५॥

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदम्।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत्प्राणत्प्रतिष्ठितम्॥६॥
एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्वा तद् बभूव॥७॥
पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः॥८॥
तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥९॥
या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा स ऋचाम्॥१०॥
यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत्।
तद्बाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव॥११॥
अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन्विद्वान्भूतमुत भव्यमस्य॥१२॥
प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥१३॥
ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम्।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः॥१४॥
दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति॥१५॥
यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन॥१६॥
ये अर्वाङ्मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥१७॥
सहस्राक्ष्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा॥१८॥

स॒त्येनो॒र्ध्वस्त॑पति ब्रह्म॒णाऽर्वाङ् वि प॑श्यति।
प्रा॒णेन॑ ति॒र्यङ् प्राण॑ति॒ यस्मि॑ञ्ज्ये॒ष्ठमधि॑ श्रि॒तम्॥१९॥
यो वै ते वि॒द्यादर॑णी॒ याभ्यां॑ निर्म॒थ्यते॒ वसु॑।
स वि॒द्वाञ्ज्ये॒ष्ठं मन्ये॑त॒ स वि॑द्या॒द् ब्राह्म॑णं म॒हत्॥२०॥
अ॒पाद॑ग्रे॒ सम॑भवत्सो अग्रे॒ स्व१॑राभ॑रत्।
चतु॑ष्पाद्भू॒त्वा भो॒ग्य॒॑ः सर्व॒माद॑त्त॒ भोज॑नम्॥२१॥
भो॒ग्यो॑ भव॒दथो॒ अन्न॑मदद् ब॒हु। यो दे॒वमु॑त्तरावन्तमु॒पासा॑तै सना॒तन॑म्॥२२॥
स॒ना॒तन॑मेनमाहु॒रुताद्य स्या॒त्पुन॑र्णवः।
अ॒हो॒रा॒त्रे प्र जा॑येते अ॒न्यो अ॒न्यस्य॑ रू॒पयोः॥२३॥
श॒तं स॒हस्र॑म॒युतं॑ न्य॒र्बुदमसंख्येयं स्वम॑स्मिन्नि॒विष्टम्।
तद॑स्य घ्नन्त्यभि॒पश्य॑त ए॒व तस्मा॑द्दे॒वो रो॑चत ए॒ष ए॒तत्॥२४॥
बाला॒देक॑मणीय॒स्कमु॒तैकं॒ नैव॑ दृश्यते।
तत॒ः परि॑ष्वजीयसी दे॒वता॒ सा मम॑ प्रि॒या॥२५॥
इ॒यं क॑ल्या॒ण्य१॑जरा॒ मर्त्य॑स्या॒मृता॑ गृ॒हे।
यस्मै॑ कृ॒ता शये॒ स यश्च॒कार॑ ज॒जार॒ सः॥२६॥
त्वं स्त्री त्वं पुमा॑नसि त्वं कु॒मा॒र उ॒त वा॑ कुमा॒री।
त्वं जी॒र्णो दण्डे॑न॒ वञ्चसि त्वं जा॒तो भ॑वसि वि॒श्वतो॑मुखः॥२७॥
उ॒तैषां॑ पि॒तोत वा॑ पु॒त्र ए॑षामु॒तैषां ज्ये॒ष्ठ उ॒त वा॑ कनि॒ष्ठः।
एको॑ ह दे॒वो मन॑सि॒ प्रवि॑ष्टः प्र॒थमो जा॒तः स उ॒ गर्भे॑ अ॒न्तः॥२८॥
पूर्णात्पूर्णमुद॑चति पूर्णं पूर्णे॑न सिच्यते। उ॒तो तद॒द्य वि॑द्याम॒ यत॒स्तत्परि॑षि॒च्यते॑॥२९॥
ए॒षा स॒नत्नी॒ सन॑मे॒व जा॒तैषा पु॑रा॒णी परि॒ सर्वा॑ बभूव।
म॒ही दे॒व्यु१॑षसो॑ विभा॒ती सैकै॑नैकेन मिष॒ता वि च॑ष्टे॥३०॥
अवि॒र्वै नाम॑ दे॒वत॒र्तेना॑स्ते॒ परी॑वृता।
तस्या॑ रू॒पेणे॒मे वृक्षा हरि॑ता॒ हरि॑तस्रजः॥३१॥
अन्ति॒ सन्तं॒ न ज॑हा॒त्यन्ति॒ सन्तं॒ न प॑श्यति।
दे॒वस्य॑ पश्य॒ काव्यं॒ न म॑मार॒ न जी॑र्यति॥३२॥

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥३३॥
यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम्॥३४॥
येभिर्वातः इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः।
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन्॥३५॥
इमामेषां पृथिवीं वस्त एको ऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव।
दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येकैः॥३६॥
यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥३७॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥३८॥
यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत्प्रदहन्विश्वदाव्यः।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात्क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम्॥३९॥
अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन्।
बृहन्ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश॥४०॥
उत्तरेणेव गायत्रीममृतेऽधि वि चक्रमे।
साम्ना ये साम संविदुर्जस्तद्दृशे क्वम्॥४१॥
निवेशनः संगमनो वसूनां देवइव सविता सत्यधर्मा।
इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम्॥४२॥
पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥४३॥
अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥४४॥

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—वशा॥ छन्दः—१ ककुम्मत्यनुष्टुप्; २-४, ७, ९, ११-२२, २५, २८, ३०, ३३, ३४ अनुष्टुप्; ५ पञ्चपदाऽतिजागतानुष्टुब्गर्भास्कन्धोग्रीवीबृहती; ६, ८, १० विराडनुष्टुप्; २३ बृहती; २४ उपरिष्टाद्बृहती; २६ आस्तारपङ्क्तिः; २७ शङ्कुमत्यनुष्टुप्; २९ त्रिपदाविराड्गायत्री; ३१ उष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्; ३२ विराट्पथ्याबृहती॥

नमस्ते जायमानायै जाताया उत ते नमः।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः॥१॥
यो विद्यात्सप्त प्रवतः सप्त विद्यात्परावतः।
शिरो यज्ञस्य यो विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्॥२॥
वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः।
शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम्॥३॥
यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि॥४॥
शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा॥५॥
यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका।
वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा॥६॥
अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे॥७॥
अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे। तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम्॥८॥
यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि। इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद्वशे॥९॥
यदनूचीन्द्रमैरात्त्व ऋषभो ह्रियत्। तस्मात्ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धोऽहरद्वशे॥१०॥
यत्ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद्वशे। इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति॥११॥
त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्यहरद्वशा।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्ययै॥१२॥

सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता।
वशा समुद्रमध्यष्ठाद्गन्धर्वैः कलिभिः सह॥१३॥
सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः।
वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती॥१४॥
सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा।
वशा समुद्रमत्यख्यद्भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती॥१५॥
अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि।
अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद्वशे त्वा॥१६॥
तद्भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्ययेे॥१७॥
वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव।
वशाया यज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत॥१८॥
ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि।
ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत॥१९॥
आस्रस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे।
पाजस्या ज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव॥२०॥
ईर्माभ्यामर्यनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव।
आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुधः॥२१॥
यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे। ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत्स हि नेत्रमवेत्तव॥२२॥
सर्वे गभीदवेपन्त जायमानादसूस्वः ।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः॥२३॥
युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद्वशी।
तरांसि यज्ञा अभवन्तरसां चक्षुरभवद्वशा॥२४॥
वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद्वशा सूर्यमधारयत्।
वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह॥२५॥
वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते।
वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः॥२६॥

य एवं विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्।
तथा हि यज्ञः सर्वैः पाद्धुहे दात्रेऽनपस्फुरन्॥ २७॥
तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा॥ २८॥
चतुर्धा रेतो अभवद्वशायाः।
आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम्॥ २९॥
वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये॥ ३०॥
वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते॥ ३१॥
सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते।
ये एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः॥ ३२॥
ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वाँल्लोकान्त्समश्नुते।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः॥ ३३॥
वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति॥ ३४॥

★ ★ ★

अथैकादशं काण्डम्

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः॥ देवता—प्राणः॥ छन्दः—१ शङ्कुमत्यनुष्टुप्; २-७, ९-१३, १६-१९, २३-२५ अनुष्टुप्; ८ पथ्यापङ्क्तिः; १४ निचृदनुष्टुप्; १५ भुरिगनुष्टुप्; २० अनुष्टुब्गर्भात्रिष्टुप्; २१ मध्येज्योतिर्जगती; २२ त्रिष्टुप्; २६ बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१॥
नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥२॥
यत्प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः।
प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते॥३॥
यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्र मोदते यत्किं च भूम्यामधि॥४॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत्प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति॥५॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः॥६॥
नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥७॥
नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः॥८॥
या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद्भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे॥९॥
प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥१०॥

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्॥११॥
प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥१२॥
प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान्प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते॥१३॥
अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः॥१४॥
प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१५॥
आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥१६॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥१७॥
यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे॥१८॥
यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान्यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः॥१९॥
अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत्पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः॥२०॥
एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत्कदा चन॥२१॥
अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥२२॥
यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते॥२३॥
यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।

अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु॥२४॥
ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥२५॥
प्राण मा मत्पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राणं बध्नामि त्वा मयि॥२६॥

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्मचारी॥ छन्दः—१ पुरोऽतिजागताविराड्गर्भात्रिष्टुप्; २ पञ्चपदाबृहतीगर्भा- विराट्शक्वरी; ३ उरोबृहती; ४, ५, २४ त्रिष्टुप्; ६ शाक्वरगर्भाचतुष्पदाजगती; ७ विराड्गर्भात्रिष्टुप्; ८ पुरोऽतिजागताविराड्जगती; ९ बृहतीगर्भात्रिष्टुप्; १० भुरिक्त्रिष्टुप्; ११, १३ जगती; १२ शाक्वरगर्भाचतुष्पद I-विराडतिजगती; १४, १६-२२ अनुष्टुप्; १५ पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्; २३ पुरोबार्हताति जागतगर्भात्रिष्टुप्; २५ आर्च्युष्णिक् (एकावसाना); २६ मध्येज्योतिरुष्णिग्गर्भात्रिष्टुप्॥

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥१॥
ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति॥२॥
आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥३॥
इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥४॥
पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥५॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥६॥
ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह॥७॥

आचार्य॑ स्ततक्ष नभ॑सी उ॒भे इ॒मे उ॒र्वी ग॑म्भी॒रे पृ॑थि॒वीं दिव॑ं च।
ते र॑क्षति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री तस्मि॑न्दे॒वाः सं॑मनसो भवन्ति॥८॥
इ॒मां भूमिं॑ पृथि॒वीं ब्र॑ह्मचा॒री भि॒क्षामा ज॑भार प्रथ॒मो दिव॑ं च।
ते कृ॒त्वा स॒मिधा॒वुपा॑स्ते तयो॒रार्पि॑ता॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑॥९॥
अ॒र्वाग॒न्यः प॒रो अ॒न्यो दि॒वस्पृ॒ष्ठाद्गुहा॑ नि॒धी नि॑हि॒तौ ब्रा॑ह्मणस्य।
तौ र॑क्षति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री तत्के॒वलं॑ कृणुते॒ ब्रह्म॑ वि॒द्वान्॥१०॥
अ॒र्वाग॒न्य इ॒तो अ॒न्यः पृ॑थि॒व्या अ॒ग्नी स॒मेतो॒ नभ॑सी अन्त॒रेमे।
तयोः॑ श्रयन्ते र॒श्मयोऽधि॑ दृ॒ढास्ताना ति॑ष्ठति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री॥११॥
अ॒भि॒क्रन्द॑न् स्त॒यन्न॒रुणः शि॑ति॒ङ्गो बृ॒हच्छे॑पोऽनु॒ भूमौ॑ जभार।
ब्र॒ह्म॒चा॒री सिञ्च॑ति सानौ॒ रेतः॑ पृथि॒व्यां तेन॑ जीवन्ति॒ प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः॥१२॥
अ॒ग्नौ सूर्यौ॑ च॒न्द्रम॑सि मात॒रिश्व॑न्ब्रह्मचा॒र्य१॑प्सु स॒मिध॒मा द॑धाति।
तासा॑म॒र्चींषि॒ पृथ॑ग॒भ्रे च॑रन्ति॒ तासा॒माज्यं॒ पुरु॑षो व॒र्षमा॑पः॥१३॥
आचा॒र्यो॑ मृ॒त्युर्व॑रु॒णः सोम॒ ओष॑धय॒ः पय॑ः।
जी॒मूता॑ आस॒न्त्सत्वा॑न॒स्तैरि॒दं स्व१॑राभृ॑तम्॥१४॥
अ॒मा घृतं॑ कृणुते॒ केव॑लमाचा॒र्यो॑ भू॒त्वा व॑रु॒णो यद्य॒दैच्छ॑त्।
प्र॒जाप॑तौ। तद् ब्र॑ह्मचा॒री प्रायच्छ॒त्स्वान्मि॒त्रो अध्या॒त्मन॑ः॥१५॥
आचा॒र्यो॑ ब्रह्मचा॒री ब्र॑ह्मचा॒री प्र॒जाप॑तिः।
प्र॒जाप॑ति॒र्वि रा॑जति वि॒राडि॑न्द्रो॑ऽभवद्व॒शी॥१६॥
ब्र॒ह्म॒च॒र्ये॑ण॒ तप॑सा॒ राजा॑ रा॒ष्ट्रं वि र॑क्षति।
आचा॒र्यो॑ ब्रह्मचर्ये॑ण ब्रह्मचा॒रिण॑मिच्छते॥१७॥
ब्र॒ह्म॒च॒र्ये॑ण क॒न्या३॑ युवा॑नं विन्दते॒ पति॑म्।
अ॒न॒ड्वान्ब्र॑ह्मचर्ये॒णाश्वो॑ घा॒सं जि॑गी॒र्षति॥१८॥
ब्र॒ह्म॒च॒र्ये॑ण॒ तप॑सा दे॒वा मृ॒त्युमपा॑घ्नत।
इन्द्रो॑ ह ब्रह्मचर्ये॑ण दे॒वेभ्य॒ः स्व१॑राभ॑रत्॥१९॥
ओष॑धयो भूतभ॒व्यम॑होरा॒त्रे व॒न॒स्पति॑ः।
सं॒व॒त्स॒रः स॒हर्तु॑भि॒स्ते जा॒ता ब्र॑ह्मचा॒रिण॑ः॥२०॥
पार्थि॑वा दि॒व्याः प॒शव॑ आर॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये।

अ॒प॒क्षाः प॒क्षिण॑श्च॒ ये ते जा॒ता ब्र॑ह्मचा॒रिणः॑॥२१॥
पृथ॒क्सर्वे॑ प्राजाप॒त्याः प्रा॒णान्मा॒त्मसु॑ बिभ्रति।
तान्त्सर्वा॒न्ब्रह्म॑ रक्षति ब्रह्मचा॒रिण्याभृ॑तम् ॥२२॥
दे॒वाना॑मे॒तत्परि॑षूतमन॑भ्यारूढं चरति॒ रोच॑मानम्।
तस्मा॑ज्जा॒तं ब्राह्म॑णं॒ ब्रह्म॑ ज्ये॒ष्ठं दे॒वाश्च॒ सर्वे॑ अ॒मृते॑न सा॒कम्॥२३॥
ब्र॒ह्म॒चा॒री ब्रह्म॒ भ्राज॑द्बिभर्ति॒ तस्मि॑न्दे॒वा अधि॑ विश्वे॑ स॒मोता॑ः।
प्रा॒णाऽपा॒नौ ज॒नय॒न्नाद् व्या॒नं वाच॒ं मनो॒ हृद॑यं॒ ब्रह्म॑ मे॒धाम्॥२४॥
चक्षुः॒ श्रोत्रं॑ यशो॑ अ॒स्मासु॑ धे॒ह्यन्नं॑ रेतो॒ लोहि॑तमुद॑रम्॥२५॥
ता॒नि॒ कल्प॑द् ब्रह्मचा॒री सलि॑लस्य॑ पृ॒ष्ठे तपो॑ऽतिष्ठत्तप्यमा॑नः समु॒द्रे।
स स्ना॒तो ब॒भ्रुः पिङ्ग॑लः पृथि॒व्यां ब॒हु रो॑चते॥२६॥

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—१-५, ७-२०, २३-२७ अनुष्टुप्; ६ पुरउष्णिग्बार्हतपराऽनुष्टुप्; २१ स्वराडनुष्टुप्; २२ विराट्पथ्याबृहती॥

उच्छि॑ष्टे॒ नाम॑ रू॒पं चोच्छि॑ष्टे लो॒क आहि॑तः।
उच्छि॑ष्ट॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ विश्व॑मन्तः॒ स॒माहि॑तम्॥१॥
उच्छि॑ष्टे॒ द्यावा॑पृथिवी॒ विश्वे॑ भू॒तं स॒माहि॑तम्।
आप॑ः समु॒द्र उच्छि॑ष्टे च॒न्द्रमा॒ वात॒ आहि॑तः ॥२॥
सन्नुच्छि॑ष्टे॒ असं॑श्चो॒भौ मृ॒त्युर्वा॑जः॒ प्र॒जाप॑तिः।
लौ॒क्या उच्छि॑ष्ट आर्य॒त्ता व्र॑श्च॒ द्रश्चापि॒ श्रीर्मयि॑ ॥३॥
दृ॒ढो दृ॑ँह॒स्थि॒रो न्यो ब्रह्म॑ विश्व॒सृजो॒ दश॑।
नाभि॑मिव स॒र्वत॑श्च॒क्रमुच्छि॑ष्टे दे॒वता॑ः श्रि॒ताः॥४॥
ऋक्साम॒ यजु॒रुच्छि॑ष्ट उद्गी॒थः प्रस्तु॑तं स्तु॒तम्।
हिङ्का॒र उच्छि॑ष्टे॒ स्वर॒ः साम्नो॑ मे॒डिश्च॒ तन्मयि॑ ॥५॥
ऐन्द्रा॒ग्नं पा॑वमा॒नं म॒हाना॑म्नीर्महाव्र॒तम्।
उच्छि॑ष्टे य॒ज्ञस्याङ्गा॑न्य॒न्तर्ग॑र्भ॑ इव मा॒तरि॑॥६॥
रा॒ज॒सूय॑ं वाज॒पेय॑मग्निष्टो॒मस्तद॑ध्व॒रः।

अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः॥७॥
अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥८॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥९॥
एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया॥१०॥
चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयतः सह।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृतं हिताः॥११॥
प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि॥१२॥
सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः॥१३॥
नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि॥१४॥
उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता॥१५॥
पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः॥१६॥
ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥१७॥
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः॥१८॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः॥१९॥
अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही॥२०॥

शर्क॑राः सिक॑ता अश्मा॑न ओष॑धयो वी॒रुध॒स्तृणा॑।
अ॒भ्राणि॑ वि॒द्युतो॑ व॒र्षमुच्छि॑ष्टे॒ संश्रि॑ता श्रिता॥ २१॥
राद्धिः॑ प्राप्ति॒ः समा॑प्ति॒र्व्या॑प्ति॒र्महः॑ एध॒तुः॑।
अत्या॑प्ति॒रुच्छि॑ष्टे॒ भूति॒श्चाहि॑ता॒ निहि॑ता हि॒ता॥ २२॥
यच्च॑ प्रा॒णति॑ प्रा॒णेन॒ यच्च॒ पश्य॑ति॒ चक्षु॑षा।
उच्छि॑ष्टाज्जज्ञिरे॒ सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑॥ २३॥
ऋच॒ः सामा॑नि॒ च्छन्दां॑सि पुरा॒णं यजु॑षा स॒ह।
उच्छि॑ष्टाज्जज्ञिरे॒ सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑॥ २४॥
प्रा॒णाऽपा॒नौ चक्षु॒ः श्रोत्र॒मक्षि॑तिश्च॒ क्षिति॑श्च॒ या।
उच्छि॑ष्टाज्जज्ञिरे॒ सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑॥ २५॥
आ॒न॒न्दा मोदा॑ः प्र॒मुदो॑ऽभीमोद॒मुद॑श्च॒ ये।
उच्छि॑ष्टाज्जज्ञिरे॒ सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑॥ २६॥
दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ गन्धर्वाप्स॒रस॑श्च॒ ये।
उच्छि॑ष्टाज्जज्ञिरे॒ सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑॥ २७॥

★ ★ ★

अथ द्वादशं काण्डम्
[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—भूमिः॥ छन्दः—१, ३, १७, २९, ३१, ५५, ६०, त्रिष्टुप्; २ भुरिक्त्रिष्टुप्; ४-६, १०, ३८ षट्पदाजगती; ७ प्रस्तारपङ्क्तिः; ८, ११ षट्पदाविराडष्टिः; ९ परानुष्टुप्त्रिष्टुप्; १२, १३, १५, ३७ पञ्चपदाशक्वरी; १४ महाबृहती; १६, २१ साम्नीत्रिष्टुप्; १८ षट्पदात्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी; १९ उरोबृहती; २० विराडुरोबृहती; २२ षट्पदाविराडतिजगती; २३ पञ्चपदाविराडतिजगती; २४ पञ्चपदानुष्टुब्गर्भाजगती; २५ सप्तपदोष्णिग- नुष्टुब्गर्भाशक्वरी; २६, २७, २८, ३३, ३५, ३९, ४०, ५०, ५४, ५६, ५९, ६३ अनुष्टुप्; ३० [त्रिपदा] विराड्गायत्री; ३२ पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्; ३४ षट्पदात्रिष्टुब्बृहतीगर्भातिजगती; ३६ विपरीतपादलक्ष्मापङ्क्तिः; ४१ षट्पदाककुम्मतीशक्वरी; ४२ स्वराडनुष्टुप्; ४३ विराडास्तारपङ्क्तिः; ४४, ४५, ४९ जगती; ४६ षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भापराशक्वरी; ४७ षट्पदोष्णिगनुष्टुब्गर्भापरातिशक्वरी; ४८ पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्; ५१ षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भा ककुम्मतीशक्वरी; ५२ पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती; ५३ पुरोबार्हतानुष्टुप्; ५७ पुरोति-जागताजगती; ५८ पुरस्ताद्बृहती; ६१ पुरोबार्हतात्रिष्टुप्; ६२ पराविराट्त्रिष्टुप्॥

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥१॥
असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥२॥
यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥३॥
यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥४॥
यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरान्भ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥५॥
विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु॥६॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥७॥
यार्णवेधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥८॥
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥९॥
यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥१०॥
गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥११॥
यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥१२॥
यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्या पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना॥१३॥
यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥१४॥
त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥१५॥
ता नः प्रजाः संदुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्॥१६॥
विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा॥१७॥

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे। महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन॥१८॥
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः॥१९॥
अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥२०॥
अग्निवासाः पृथिव्यासितज्रूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु॥२१॥
भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु॥२२॥
यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥२३॥
यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्यायै विवाहे।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥२४॥
यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु।
कन्यासु यां वर्चो यद्भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन॥२५॥
शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः सन्धृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥२६॥
यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि॥२७॥
उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥२८॥
विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे॥२९॥
शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि॥३०॥

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः॥३१॥
मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम्॥३२॥
यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम्॥३३॥
यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिशेमहे।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि॥३४॥
यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥३५॥
ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्॥३६॥
याप सर्प विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः।
परा दस्यून्ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे॥३७॥
यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥३८॥
यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह॥३९॥
सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः॥४०॥
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥४१॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥४२॥
यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥४३॥
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना॥४४॥
जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥४५॥
यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंशमा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये।
क्रिमिर्जिन्वत्पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद्यच्छिवं तेन नो मृड॥४६॥
ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड॥४७॥
मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय॥४८॥
ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत्॥४९॥
ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद्भूमे यावय॥५०॥
यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः॥५१॥
यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥५२॥
द्यौश्च मे इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः॥५३॥
अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥५४॥

अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः॥५५॥
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥५६॥
अश्वइव रजो दुधुवे वि ताञ्जनान्य आक्षियन्पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम्॥५७॥
यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः॥५८॥
शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह॥५९॥
यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं१ पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः॥६०॥
त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य॥६१॥
उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥६२॥
भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥६३॥

[५] पञ्चमं सूक्तम्; प्रथमः पर्यायः

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—ब्रह्मगवी॥ छन्दः—१ प्राजापत्यानुष्टुप्; २ भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्; ३ चतुष्पदास्वराडुष्णिक्; ४ आसुर्यनुष्टुप्; ५ साम्नीपङ्क्तिः; ६ साम्न्युष्णिक्॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता॥१॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता॥२॥
स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्॥३॥
ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः॥४॥
तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥५॥
अप क्रामति सूनृता वीर्यं१ पुण्या लक्ष्मीः॥६॥

[५] पञ्चमं सूक्तम्; द्वितीयः पर्यायः

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—ब्रह्मगवी॥ छन्दः—७ साम्नीत्रिष्टुप्; ८ भुरिगार्च्यनुष्टुप्; ९ आर्च्यनुष्टुप्; १० उष्णिक्; ११ आर्चीनिचृत्पङ्क्तिः॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥७॥
ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥८॥
आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च॥९॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च॥१०॥
तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥११॥

[५] पञ्चमं सूक्तम्; तृतीयः पर्यायः

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—ब्रह्मगवी॥ छन्दः—१२ विराड्विषमागायत्री; १३ आसुर्यनुष्टुप्; १४, २६ साम्न्युष्णिक्; १५ गायत्री; १६, १७, १९, २० प्राजापत्यानुष्टुप्; १८ याजुषीजगती; २१, २५ साम्न्यनुष्टुप्; २२ साम्नीबृहती; २३ याजुषीत्रिष्टुप्; २४ आसुरीगायत्री; २७ आर्च्युष्णिक्॥
सैषा भीमा ब्रह्मगव्यघविषा साक्षात्कृत्या कूल्बजमावृता॥१२॥
सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः॥१३॥
सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः॥१४॥
सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्या दीयमाना मृत्योः पड्बीश आ द्यति॥१५॥
मेनिः शतवधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा॥१६॥
तस्माद्वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता॥१७॥
वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता॥१८॥
हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवो ३ पेक्षमाणा॥१९॥
क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति॥२०॥
मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती॥२१॥
सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती॥२२॥
मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा॥२३॥
सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा॥२४॥

शरव्या३ मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना॥ २५॥
अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता॥ २६॥
अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य॥ २७॥

[५] पञ्चमं सूक्तम्; चतुर्थः पर्यायः

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—ब्रह्मगवी॥ छन्दः—२८ आसुरीगायत्री; २९, ३७ आसुर्यनुष्टुप्; ३० साम्न्यनुष्टुप्; ३१ याजुषीत्रिष्टुप्; ३२ साम्नीगायत्री; ३३, ३४ साम्नीबृहती; ३५ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ३६ साम्न्युष्णिक्; ३८ प्रतिष्ठागायत्री॥

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना॥ २८॥
देवहेतिर्हियमाणा व्यृद्धिर्हृता॥ २९॥
पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना॥ ३०॥
विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता॥ ३१॥
अघं पच्यमाना दुःष्वप्न्यं पक्वा॥ ३२॥
मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता॥ ३३॥
असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता॥ ३४॥
अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता॥ ३५॥
शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता॥ ३६॥
अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता॥ ३७॥
अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च॥ ३८॥

[५] पञ्चमं सूक्तम्; पञ्चमः पर्यायः

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—ब्रह्मगवी॥ छन्दः—३९ साम्नीपङ्क्तिः; ४० याजुष्यनुष्टुप्; ४१, ४६ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ४२ आसुरीबृहती; ४३ साम्नीबृहती; ४४ पिपीलिकामध्यानुष्टुप्; ४५ आर्चीबृहती॥

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम्॥ ३९॥
अस्वगता परिह्रुता ॥ ४०॥
अग्निः क्रव्याद्भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति॥ ४१॥
सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति॥ ४२॥

छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु॥४३॥
विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना॥४४॥
अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते॥४५॥
य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते॥४६॥

[५] पञ्चमं सूक्तम्; षष्ठः पर्यायः

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—ब्रह्मगवी॥ छन्दः—४७, ४९, ५१-५३, ५७-५९, ६१ प्राजापत्यानुष्टुप्; ४८ आर्च्यनुष्टुप्; ५० साम्नीबृहती; ५४, ५५ प्राजापत्योष्णिक्; ५६ आसुरीगायत्री; ६० गायत्री॥

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम्॥४७॥
क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम्॥४८॥
क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम्॥४९॥
क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत्तदासी३ दिदं नु ता३ दिति॥५०॥
छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय॥५१॥
आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय॥५२॥
वैश्वदेवी ह्युच्यसे कृत्या कूल्बजमावृता॥५३॥
ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः॥५४॥
क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम्॥५५॥
आ दत्से जिनतां वचं इष्टं पूर्तं चाशिषः॥५६॥
आदाय जीतं जीताय लोके ३ ऽमुष्मिन्प्र यच्छसि॥५७॥
अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या॥५८॥
मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव॥५९॥
अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः॥६०॥
त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम्॥६१॥

[५] पञ्चमं सूक्तम्; सप्तमः पर्यायः

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—ब्रह्मगवी॥ छन्दः—६२-६४, ६६, ६८-७० प्राजापत्यानुष्टुप्; ६५ गायत्री; ६७ प्राजापत्यागायत्री; ७१ आसुरीपङ्क्तिः; ७२ प्राजापत्यात्रिष्टुप्; ७३ आसुर्युष्णिक्॥

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह॥६२॥
ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसन्दह॥६३॥
यथायाद्यमसादनात्पापलोकान्परावतः॥६४॥
एवा त्वं दैव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः॥६५॥
वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥६६॥
प्र स्कन्धान्प्र शिरो जहि॥६७॥
लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय॥६८॥
मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह॥६९॥
अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि॥७०॥
सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय॥७१॥
अग्नेरेनं क्रव्यात्पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः॥७२॥
सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु॥७३॥

★★★

अथ त्रयोदशं काण्डम्

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—१, १२-१५, ३९-४१ अनुष्टुप्; २, ३, ८, ४३, जगती; ४-७, ९ २८, ३१, ३२, ३३, ३५, ३६, ३८, ४२, ४६ त्रिष्टुप्; १० आस्तारपङ्क्तिः; ११ बृहतीगर्भात्रिष्टुप्; १६, १७-२४ आर्षीगायत्री; २५ ककुममत्यास्तारपङ्क्तिः; २६ पुरोद्व्यतिजागताभुरिग्जगती; २७ विराड्जगती; २९ बार्हतगर्भानुष्टुप्; ३० पञ्चपदोष्णिग्बृहती गर्भाऽतिजगती; ३४ आर्षीपङ्क्तिः; ३७ पञ्चपदाविराड्गर्भाजगती; ४४ चतुष्पदापुरः-शाक्वराभुरिग्जगती; ४५ अतिजागतगर्भाजगती॥

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः॥१॥
दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः॥२॥
यत्प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया।
तदादित्य महि तत्ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे॥३॥
विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त ब्रह्वीः।
स्तुताद्यमत्त्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम्॥४॥
मा त्वा दभन्परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गां अति याहि शीभम्।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि॥५॥
स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त ब्रह्वीः॥६॥
सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम्।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त ब्रह्वीः॥७॥
सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद्विधूय देवस्तमो दिवमारुहत्॥८॥
उत्केतुना बृहता देव आगन्नपावृक्तमोऽभि ज्योतिरश्रैत्।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा॥९॥

उद्यन्नश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वाँल्लोकान्परिभूर्भ्राजमानः॥१०॥
पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥११॥
दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे।
स एषि सुधृतस्तपन्विश्वा भूतावचाकशत्॥१२॥
उभावन्तौ समर्षसि वत्सः समातरावि व।
नन्वेऽ३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः॥१३॥
यत्समुद्रमनु श्रितं तत्सिषासति सूर्यः।
अध्वास्य विततो महान्पूर्वश्चापरश्च यः॥१४॥
तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नापचिकित्सति।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते॥१५॥
उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥१६॥
अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥१७॥
अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥१८॥
तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचन॥१९॥
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे॥२०॥
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥२१॥
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य॥२२॥
सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षणम्॥२३॥
अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः॥२४॥
रोहितो दिवमारुहत्तपसा तपस्वी।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव॥२५॥
यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः ॥२६॥
एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं१ समासते॥२७॥

अतन्द्रो यास्यन्हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि॥२८॥
बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि॥२९॥
रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः।
उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित्॥३०॥
अर्वाङ् परस्तात्प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित्पतयन्पतङ्गः।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन्प्र केतुना सहते विश्वमेजत्॥३१॥
चित्रश्चिकित्वान्महिषः सुपर्ण आरोचयन्रोदसी अन्तरिक्षम्।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसानो प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि॥३२॥
तिग्मो विभ्राजन्तन्वं शिशानोऽरंगमासः प्रवतो ररांणः।
ज्योतिष्मान्पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात्प्रदिशः कल्पमानः॥३३॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान्प्रदिशः सूर्य उद्यन्।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद्दुरितानि शुक्रः॥३४॥
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥३५॥
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्दद्दक्षिः॥३६॥
दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम॥३७॥
सहस्राक्षं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा॥३८॥
रोहितः कालो अभवद्रोहितोऽग्रे प्रजापतिः।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराभरत् ॥३९॥
रोहितो लोको अभवद्रोहितोऽत्यतपद्दिवम्।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत् ॥४०॥
सर्वा दिशः समचरद्रोहितोऽधिपतिर्दिवः।
दिवं समुद्रमाद्भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥४१॥

आरोहꣳश्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
चित्रश्चिकित्वान्महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद्विभाति॥४२॥
अभ्यꣳन्यदेति पर्यन्यदस्यतेऽहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः।
सूर्यꣳ वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदꣳ हवामहे नाधमानाः॥४३॥
पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वꣳ बभूव।
विश्वꣳ संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥४४॥
पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन्परि द्यामन्तरिक्षम्।
सर्वꣳ संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि॥४५॥
अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रतिꣳ धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ॥४६॥

[४] चतुर्थं सूक्तम्; प्रथमः पर्यायः

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—१-११ प्राजापत्यानुष्टुप्; १२ विराड्गायत्री; १३ आसुर्युष्णिक्॥

स एति सविता स्व र्दिवस्पृष्ठेऽव्चाकशत्॥१॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥२॥
स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥३॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥४॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥५॥
तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥६॥
पश्चात्प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥७॥
तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः॥८॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥९॥

तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः॥१०॥
स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न॥११॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव॥१२॥
एते अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति॥१३॥

[४] चतुर्थं सूक्तम्; द्वितीयः पर्यायः

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—१४ भुरिक्साम्नीत्रिष्टुप्; १५ आसुरीपङ्क्तिः; १६, १९ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; १७, १८ आसुरीगायत्री; २० विराड्गायत्री; २१ अनुष्टुप् (१५-२१ य एतमित्यस्योक्तमेव)॥

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च॥१४॥
य एतं देवमेकवृतं वेद॥१५॥
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥१६॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥१७॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥१८॥
स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। य एतं देवमेकवृतं वेद॥१९॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। य एतं देवमेकवृतं वेद॥२०॥
सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति। य एतं देवमेकवृतं वेद॥२१॥

[४] चतुर्थं सूक्तम्; तृतीयः पर्यायः

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—२२ भुरिक्प्राजापत्यात्रिष्टुप् (य एतमित्यस्योक्तमेव); २३ आर्चीगायत्री; २४ त्रिष्टुप्; २५ एकपदाऽऽसुरीगायत्री; २६ आर्च्यनुष्टुप्; २७, २८ प्राजापत्यानुष्टुप्॥

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं
चान्नं चान्नाद्यं च। य एतं देवमेकवृतं वेद॥२२॥
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च॥२३॥
य एतं देवमेकवृतं वेद॥२४॥
स एव मृत्युः सो३ मृतं सो३ भ्वं१ स रक्षः॥२५॥

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेयो नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः॥ २६॥
तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते॥ २७॥
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशो चन्द्रमसा सह॥ २८॥

[४] चतुर्थं सूक्तम्; चतुर्थः पर्यायः

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—२९, ३३, ३९, ४०, ४५ आसुरीगायत्री; ३०, ३२, ३५, ३६, ४२ प्राजापत्यानुष्टुप्; ३१ विराड्गायत्री; ३४, ३७, ३८ साम्न्युष्णिक्; ४१ साम्नीबृहती; ४३ आर्षीगायत्री; ४४ साम्न्यनुष्टुप्॥

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत॥ २९॥
स वै रात्र्या अजायत तस्माद्रात्रिरजायत॥ ३०॥
स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत॥ ३१॥
स वै वायोरजायत तस्माद्वायुरजायत॥ ३२॥
स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत॥ ३३॥
स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद्दिशोऽजायन्त॥ ३४॥
स वै भूमेरजायत तस्माद्भूमिरजायत॥ ३५॥
स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत॥ ३६॥
स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त॥ ३७॥
स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त॥ ३८॥
स वै यज्ञादजायत तस्माद्यज्ञोऽजायत॥ ३९॥
स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्॥ ४०॥
स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति॥ ४१॥
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा॥ ४२॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः॥ ४३॥
तावांस्ते मघवन्महिमोपो ते तन्वः शतम्॥ ४४॥
उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम्॥ ४५॥

[४] चतुर्थं सूक्तम्; पञ्चमः पर्यायः

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—४६ आसुरीगायत्री; ४७ यवमध्यागायत्री; ४८ साम्न्युष्णिक्; ४९ निचृत्साम्नीबृहती; ५० प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ५१ विराड्गायत्री (५०, ५१ नमस्ते इत्यस्यान्नाद्येनत्यस्य चोक्तमेव)॥

भूया॒निन्द्रो॑ नमु॒राद्भूया॑निन्द्रासि मृ॒त्युभ्यः॑॥४६॥
भूया॒नरा॑त्याः॒ शच्या॒ः पति॒स्त्वमि॑न्द्रासि वि॒भूः प्र॒भूरि॑ति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्॥४७॥
नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत॥४८॥
अ॒न्नाद्ये॑न॒ यश॑सा॒ तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑॥४९॥
अम्भो॒ अमो॒ मह॒ः सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्।
नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत।
अ॒न्नाद्ये॑न॒ यश॑सा॒ तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑॥५०॥
अम्भो॑ अरु॒णं र॑ज॒तं रज॒ः सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्।
नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत।
अ॒न्नाद्ये॑न॒ यश॑सा॒ तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑॥५१॥

[४] चतुर्थं सूक्तम्; षष्ठः पर्यायः

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—५२, ५३ प्राजापत्याऽनुष्टुप् (नमस्ते इत्यस्यान्नाद्येनेत्यस्य चोक्तमेव); ५४ द्विपदाऽर्षीगायत्री; ५५ साम्न्युष्णिक्; ५६ निचृत्साम्नीबृहती॥

उ॒रुः पृथु॒ः सुभूर्भु॑व॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्। नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत।
अ॒न्नाद्ये॑न॒ यश॑सा॒ तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑॥५२॥
प्रथो॒ वरो॒ व्यचो॑ लो॒क इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्।
नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत। अ॒न्नाद्ये॑न॒ यश॑सा॒ तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑॥५३॥
भव॑द्वसु॒रिद॑द्वसुः॒ सं॑यद्वसु॒रायद्व॑सु॒रिति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्॥५४॥
नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत॥५५॥
अ॒न्नाद्ये॑न॒ यश॑सा॒ तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑॥५६॥

★ ★ ★

अथ षोडशं काण्डम्

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—१, ५-२९ (प्र०), ३० एकपदायजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्; २, ५-२९ (द्वि०), ३१ त्रिपदानिचृद्गायत्री; ३ प्राजापत्यागायत्री; ४, ५-२९ (च०), ३३ त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्; ५-७ १२, २०, २२, २७ (सर्वेषां तृ०) आसुरीजगती; ८, १०, ११, १३, १४, १६, २१ (सर्वेषां तृ०) आसुरीत्रिष्टुप्; ९, १५, १७-१९, २३-२६ (सर्वेषां तृ०), ३२ आसुरी-पङ्क्तिः; २८, २९ (द्वयोः तृ०) आसुरीबृहती॥

जितम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृत॒मस्माक॒ं तेजो॑ऽस्माक॒ं ब्रह्मा॒स्माक॑ं
स्व॑र॒स्माकं॑ य॒ज्ञो३॑ऽस्माकं॒ प॒शवो॑ऽस्माकं॒ प्र॒जा अ॒स्माकं॑ वी॒रा अ॒स्माक॑म्॥१॥
तस्मा॑द॒मुं नि॑र्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः॥२॥
स ग्राह्या॒ः पाशा॒न्मा मो॑चि ३॥
तस्ये॒दं वर्च॒स्तेज॑ः प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥४॥
जितम॒स्माक.....।
स निर्ऋ॑त्या॒ः पाशा॒न्मा मो॑चि।
तस्ये॒दं वर्च॒स्तेज॑ः प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥५॥
जितम॒स्माक.....।
सोऽभू॑त्या॒ः पाशा॒न्मा मो॑चि।
तस्ये॒दं वर्च॒स्तेज॑ः प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥६॥
जितम॒स्माक.....।
स निर्भू॑त्या॒ः पाशा॒न्मा मो॑चि।
तस्ये॒दं वर्च॒स्तेज॑ः प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥७॥
जितम॒स्माक.....।
स परा॑भूत्या॒ः पाशा॒न्मा मो॑चि।
तस्ये॒दं वर्च॒स्तेज॑ः प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥८॥
जितम॒स्माक.....।

स दैवजामीनां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥९॥
जितमस्माक.....।
स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥१०॥
जितमस्माक.....।
स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥११॥
जितमस्माक.....।
स ऋषीणां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥१२॥
जितमस्माक.....।
स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥१३॥
सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥१४॥
जितमस्माक.....।
स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥१५॥
जितमस्माक.....।
सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥१६॥
जितमस्माक.....।
स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥१७॥
जितमस्माक.....।

स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥१८॥
जितमस्माक.....।
स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥१९॥
जितमस्माक.....।
स ऋतूनां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥२०॥
जितमस्माक.....।
स आर्तवानां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥२१॥
जितमस्माक.....।
स मासानां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥२२॥
जितमस्माक.....।
सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥२३॥
जितमस्माक.....।
सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥२४॥
जितमस्माक.....।
सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥२५॥
जितमस्माक.....।
स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि।
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥२६॥
जितमस्माक.....।

स इ॑न्द्रा॒ग्न्योः पा॒शा॒न्मा मो॑चि।
तस्ये॒दं व॑र्च॒स्तेज॑ः प्रा॒णमा॑यु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥२७॥
जित॑म॒स्माक॑.....।
स मि॒त्रावरु॑णयो॒ः पा॒शा॒न्मा मो॑चि।
तस्ये॒दं व॑र्च॒स्तेज॑ः प्रा॒णमा॑यु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥२८॥
जित॑म॒स्माक॑.....।
स रा॒ज्ञो वरु॑णस्य॒ पा॒शा॒न्मा मो॑चि।
तस्ये॒दं व॑र्च॒स्तेज॑ः प्रा॒णमा॑यु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥२९॥
जित॑म॒स्माक॑.....।
स मृ॒त्योः पड्बी॑शा॒त्पा॒शा॒न्मा मो॑चि॥
तस्ये॒दं व॑र्च॒स्तेज॑ः प्रा॒णमा॑यु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥३०॥

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—यमः॥ देवता—१ प्रजापतिः; २ मन्त्रोक्ताः; ३, ४ सूर्यः॥ छन्दः—१ आर्च्यनुष्टुप्; २ आर्च्युष्णिक्; ३ साम्नीपङ्क्तिः; ४ परोष्णिक्॥

जित॑म॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑म॒भ्य॑ष्ठां विश्वाः पृत॑ना॒ अरा॑तीः॥१॥
तद॒ग्निरा॑ह॒ तदु॒ सोम॑ आह पू॒षा मा॑ धात्सुकृ॒तस्य॑ लो॒के॥२॥
अग॑न्म॒ स्व॑१॑ः स्व॑र्ग॒न्म॒ सं सूर्य॑स्य॒ ज्योति॑षागन्म॥३॥
व॒स्यो॒भूया॑य॒ वसु॑मान्य॒ज्ञो वसु॑ वंशिषीय॒ वसु॑मान्भूयासं॒ वसु॒ मयि॑ धेहि॥४॥

★★★

अथाष्टादशं काण्डम्

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः; मन्त्रोक्ताः; ४, ३४ अग्निः; ५ जातवेदाः; २९ पितरः॥ छन्दः—१-३, ६, १४-१८, २०, २२, २३, २५, ३०, ३४, ३६, ४६, ४८, ५०, ५१, ५२, ५६ अनुष्टुप्; ४, ७, ९, १३ जगती; ५, २६, ४९, ५७ भुरिक्त्रिष्टुप्; ८, १०-१२, २१, २७-२९, ३१-३३, ३५, ४७, ५३-५५, ५८-६० त्रिष्टुप्; १९ त्रिपदागायत्री; २४ त्रिपदासमविषमाऽऽर्षीगायत्री; ३७ विराड्जगती; ३८, ३९, ४१ आर्षीगायत्री; ४०, ४२-४४ भुरिगार्षीगायत्री; ४५ ककुम्मत्यनुष्टुप्॥

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥१॥
यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥२॥
यमाय घृतवत्पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे॥३॥
मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात्पितॄँरुप॥४॥
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात्पितृभ्यः।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति॥५॥
त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता॥६॥
सूर्य चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥७॥
अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥८॥
यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम्।
अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेताभिः शिवतमाभि शृतं कृधि॥९॥

अव॑ सृज॒ पुन॑रग्ने पि॒तृभ्यो॒ यस्त॒ आहु॑त॒श्चर॑ति स्व॒धावा॑न्।
आयु॒र्वसा॑न॒ उप॑ यातु॒ शेष॒: सं ग॑च्छतां त॒न्वा॑ सु॒वर्चा॑:॥१०॥
अति॑ द्रव॒ श्वानौ॑ सारमे॒यौ च॑तुर॒क्षौ श॒बलौ॑ सा॒धुना॑ प॒था।
अधा॑ पि॒तॄन्त्सु॑वि॒दत्राँ॑ अपीहि य॒मेन॒ ये स॑ध॒मादं॒ मद॑न्ति॥११॥
यौ ते॒ श्वानौ॑ यम रक्षि॒तारौ॑ चतु॒र॒क्षौ प॑थि॒षदौ॑ नृ॒चक्ष॑सा।
ताभ्यां॑ राज॒न्परि॑ धेह्येनं स्व॒स्त्य॑स्मा अनमी॒वं च॑ धेहि॥१२॥
उ॒रू॒ण॒सावसु॒तृपा॑वुदुम्ब॒लौ य॒मस्य॑ दू॒तौ च॑रतो॒ जना॑ँ अनु॑।
ता॒व॒स्मभ्यं॑ दृ॒शये॒ सूर्या॑य॒ पुन॑र्दाता॒मसु॑मद्येह भ॒द्रम्॥१३॥
सोम॒ एके॑भ्यः पवते घृ॒तमेक॒ उपा॑सते।
येभ्यो॒ मधु॒ प्रधा॑व॒ति॒ ताꣳश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥१४॥
ये चित्पू॒र्व ऋ॒तसा॑ता ऋ॒तजा॑ता ऋ॒ता॒वृध॑:।
ऋषी॒न्तप॑स्वतो यम तपो॒जाँ अपि॑ गच्छतात्॥१५॥
तप॑सा॒ ये अ॑नाधृ॒ष्यास्तप॑सा॒ ये स्व॑र्य॒युः।
तपो॒ ये च॑क्रि॒रे म॑ह॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥१६॥
ये यु॒ध्यन्ते॒ प्र॒धने॑षु॒ शूरा॑सो॒ ये त॑नू॒त्यज॑:।
ये वा॑ स॒हस्र॑दक्षिणा॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥१७॥
स॒हस्र॑णीथाः क॒वयो॒ ये गो॑पा॒यन्ति॒ सूर्य॑म्।
ऋषी॒न्तप॑स्वतो यम तपो॒जाँ अपि॑ गच्छतात्॥१८॥
स्यो॒नास्मै॑ भव पृथिव्यनृक्ष॒रा नि॒वेश॑नी। यच्छा॑स्मै॒ शर्म॑ स॒प्रथा॑:॥१९॥
अ॒स॒ꣳबा॒धे पृ॑थि॒व्या उ॒रौ लो॒के नि धी॑यस्व।
स्व॒धा याश्च॑कृ॒षे जी॒व॒न्तास्ते॑ सन्तु मधु॒श्चुत॑:॥२०॥
ह्व॒या॒मि ते॒ मन॑सा॒ मन॑ इ॒हेमान्गृ॒हाँ उप॑ जुजुषा॒ण एहि॑।
सं ग॑च्छस्व पि॒तृभिः॑ सं य॒मेन॑ स्यो॒नास्त्वा॒ वाता॒ उप॑ वान्तु शग्मा:॥२१॥
उत्त्वा॑ वहन्तु म॒रुत॑ उदवा॒हा उ॑द॒प्रुत॑:।
अ॒जेन॑ कृ॒ण्वन्त॑: शी॒तं व॒र्षेणो॑क्षन्तु बालिति॑॥२२॥
उद॑ह्व॒मायु॒रायु॑षे क्र॒त्वे द॒क्षाय॑ जी॒वसे॑।
स्वान्ग॑च्छतु ते॒ मनो॒ अधा॑ पि॒तॄँरुप॑ द्रव॥२३॥

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते। मा तै हास्त तन्वः किं चनेह॥२४॥
मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु॥२५॥
यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः।
तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु॥२६॥
अपेमं जीवा अरुधन्गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून्पितृभ्यो गमयां चकार॥२७॥
ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टान्तस्मात्प्र धमाति यज्ञात्॥२८॥
सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः।
तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग्जीवन्तः शरदः पुरूचीः॥२९॥
यां तै धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर औदनम्।
तेना जनस्यासो भर्ता योऽत्रासदजीवनः॥३०॥
अश्वावतीं प्र तर या सुशेवार्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद्विदत भागधेयम्॥३१॥
यमः परोऽवरो विवस्वान्ततः परं नाति पश्यामि किं चन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वान्नन्वाततान॥३२॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥३३॥
ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन्हविषे अत्तवे॥३४॥
ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान्वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्॥३५॥
शं तप मातिं तपो अग्ने मा तन्वं तपः।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः॥३६॥
ददाम्यस्मा अवसानमेतद्य एष आगन्मम चेदभूदिह।
यमश्चकित्वान्प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठताम्॥३७॥

इ॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथा॑ प॒रं न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा॥३८॥
प्रेमां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथा॑ प॒रं न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा॥३९॥
अ॒पे॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथा॑ प॒रं न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा॥४०॥
वी॒इ॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथा॑ प॒रं न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा॥४१॥
नि॒रि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथा॑ प॒रं न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा॥४२॥
उ॒दि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथा॑ प॒रं न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा॥४३॥
स॒मि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथा॑ प॒रं न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा॥४४॥
अमा॑सि॒ मात्रां॑ स्व॒रगा॒मायु॑ष्मान्भूयासम्।
यथा॑ प॒रं न मासा॑तै श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा॥४५॥
प्रा॒णो अ॑पा॒नो व्या॒न आयु॒श्चक्षु॑र्दृ॒शये॒ सूर्या॑य।
अप॑रिपरेण प॒था य॒मरा॑ज्ञः पि॒तॄन्गा॑च्छ॥४६॥
ये अग्र॑वः शशमा॒नाः प॑रे॒युर्हि॒त्वा द्वेषां॑स्यन॑पत्यवन्तः।
ते द्यामु॒दित्या॑विदन्त लो॒कं नाक॑स्य पृ॒ष्ठे अधि॑ दीध्या॑नाः॥४७॥
उ॒द॒न्व॒ती॒ द्यौर॑व॒मा पी॑लु॒म॒ती॑ति॒ मध्य॒मा।
तृ॒तीया॑ ह॒ प्र॒द्यौरि॑ति॒ यस्यां॑ पि॒तर॒ आस॑ते॥४८॥
ये नः॑ पि॒तु पि॒तरो॒ ये पि॑ता॒महा॒ य आ॑विवि॒शुरु॒र्वी॒न्तरि॑क्षम्।
य आ॑क्षियन्ति॑ पृथि॒वीमु॒त द्यां तेभ्य॑: पि॒तृभ्यो॒ नम॑सा विधेम॥४९॥
इ॒दमि॒द्वा उ॒ नाप॑रं दि॒वि प॑श्यसि॒ सूर्य॑म्।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॒॑नं भूम ऊर्णुहि॥५०॥
इ॒दमि॒द्वा उ॒ नाप॑रं ज॒रस्य॒न्यदि॒तोऽप॑रम्।
जा॒या पति॑मिव॒ वास॑सा॒भ्ये॒॑नं भूम ऊर्णुहि ॥५१॥
अ॒भि त्वो॒र्णो॑मि पृथि॒व्या मा॒तुर्व॒स्त्रेण॑ भ॒द्रया॑।
जी॒वेषु॑ भ॒द्रं तन्मयि॑ स्व॒धा पि॒तृषु॒ सा त्वयि॑॥५२॥
अग्नी॑षोमा॒ पथि॑कृता स्यो॒नं दे॒वेभ्यो॒ रत्नं॑ दधथुर्वि लो॒कम्।
उप॒ प्रेष्यन्तं॑ पू॒षणं॒ यो वहा॑त्यञ्जो॒यानैः॒ प॒थिभिस्तत्र॑ गच्छतम्॥५३॥
पू॒षा त्वे॒तश्च्या॑वयतु॒ प्र वि॒द्वाननष्टपशु॒र्भुव॑नस्य गो॒पाः।
स त्वै॒तेभ्य॒: परि॑ ददत्पि॒तृभ्यो॒ऽग्निर्दे॒वेभ्य॑: सुविद॒त्रिये॑भ्यः॥५४॥

आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥५५॥
इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्॥५६॥
एतत्त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूहः यदिहाबिभः पुरा।
इष्टापूर्तमनुसंक्रामं विद्वान्यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु॥५७॥
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्षन्परीळ्वयातै॥५८॥
दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम॥५९॥
धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्॥६०॥

★ ★ ★

अथैकोनविंशं काण्डम्

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥१॥
त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादस्येहाभवत्पुनः।
तथा व्यक्रामद्विष्वङ्ङशनानशने अनु॥२॥
तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥३॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्सह॥४॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥५॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥६॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥७॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥८॥
विराडग्रे समभवद्विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥९॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥१०॥
तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रशः।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये॥११॥

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये च॒ के चौ॑भ॒यादं॑तः।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॥१२॥
तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हु॒त ऋचः॒ सामा॑नि जज्ञिरे।
छन्दो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत॥१३॥
तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हु॒तः संभृ॑तं पृषदा॒ज्य॑म्।
प॒शूँस्तांश्च॑क्रे वायव्या॑ना॒र॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये॥१४॥
स॒प्तास्या॑सन्परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न्पुरु॑षं प॒शुम्॥१५॥
मू॒र्ध्नो दे॒वस्य॑ बृह॒तो अं॑शवः॑ स॒प्त स॑प्त॒तीः।
रा॒ज्ञः सोम॑स्याजायन्त जा॒तस्य॒ पुरु॑षा॒दधि॥१६॥

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१ विराडुरोबृहती; २-४, ६-८, १०, ११, १३ अनुष्टुप्; ५ पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः; ९ पञ्चपदाककुम्मतीत्रिष्टुप्; १२ सप्तपदाऽष्टिः; १४ चतुष्पदासंकृतिः॥

शा॒न्ता द्यौः शा॒न्ता पृ॑थिवी शा॒न्तमि॒दमु॒र्वं॑१॒॑न्तरि॑क्षम्।
शा॒न्ता उ॑द॒न्वती॒रापः॑ शा॒न्ता नः॑ स॒न्त्वोष॑धीः॥१॥
शा॒न्तानि॑ पू॒र्वरू॑पाणि॑ शा॒न्तं नो॑ अस्तु कृताकृ॒तम्।
शा॒न्तं भू॒तं च॒ भव्यं॑ च॒ सर्वं॑मे॒व शम॑स्तु नः॥२॥
इ॒यं या प॑रमे॒ष्ठिनी॒ वाग्दे॒वी ब्रह्म॑संशिता।
यया॒ैव स॑सृ॒जे घो॒रं तया॒ैव शान्ति॑रस्तु नः॥३॥
इ॒दं यत्प॑रमे॒ष्ठिनं॑ मनो॑ वा॒ं ब्रह्म॑संशितम्।
येनै॒व स॑सृ॒जे घो॒रं तेनै॒व शान्ति॑रस्तु नः॥४॥
इ॒मानि॒ यानि॒ पञ्चे॑न्द्रि॒याणि॒ मनः॑षष्ठानि मे हृ॒दि ब्रह्म॑णा॒ संशि॑तानि।
यैरे॒व स॑सृ॒जे घो॒रं तैरे॒व शान्ति॑रस्तु नः॥५॥
शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑ण॒ः शं विष्णुः॒ शं प्र॒जाप॑तिः।
शं न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शं नो॑ भवत्वर्य॒मा॥६॥

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः॒ शं वि॒वस्वा॒ञ्छमन्त॑कः।
उ॒त्पा॒ता॒ः पार्थि॑वान्तरि॒क्षाः॒ शं नो॑ दि॒विच॑रा ग्रहाः॑ ॥७॥
शं नो॒ भूमि॑र्वेप्यमा॒ना शमु॒ल्का नि॑हे॒तं च॒ यत्।
शं गावो॒ लोहि॑तक्षीरा॒ः शं भूमि॒रव॑ तीर्यतीः॥८॥
नक्ष॑त्रमु॒ल्काभि॑हतं॒ शम॑स्तु नः॒ शं नो॑ऽभिचा॒राः शमु॒ सन्तु कृ॒त्याः।
शं नो॒ निखा॑ता व॒ल्गाः शमु॒ल्का दे॑शोपस॒र्गाः शमु॒ नो भ॑वन्तु॥९॥
शं नो॒ ग्रहा॑श्चान्द्रम॒साः शमा॑दि॒त्यश्च॑ राहु॒णा।
शं नो॑ मृ॒त्युर्धू॒मके॑तुः॒ शं रु॒द्रास्ति॒ग्मते॑जसः॥१०॥
शं रु॒द्राः शं वस॑व॒ः शमा॑दि॒त्याः शम॒ग्नय॑ः।
शं नो॑ मह॒र्षयो॑ दे॒वाः शं दे॒वाः शं बृ॑ह॒स्पति॑ः॥११॥
ब्रह्म॑ प्र॒जाप॑तिर्धा॒ता लो॒का वे॒दाः स॑प्तऋ॒षयो॒ऽग्नय॑ः।
तैर्मे॑ कृ॒तं स्व॒स्त्यय॑न॒मिन्द्रो॑ मे॒ शर्म॑ यच्छतु ब्रह्मा मे॒ शर्म॑ यच्छतु।
विश्वे॑ मे दे॒वाः शर्म॑ यच्छन्तु॒ सर्वे॑ मे दे॒वाः शर्म॑ यच्छन्तु॥१२॥
यानि॒ कानि॑ चिच्छा॒न्तानि॑ लो॒के स॑प्तऋ॒षयो॑ वि॒दुः।
सर्वा॑णि॒ शं भ॑वन्तु मे॒ शं मे॑ अ॒स्त्वभ॑यं मे अस्तु॥१३॥
पृथिवी शान्ति॒र॒न्तरि॑क्षं शान्ति॒र्द्यौः शान्ति॒रापः॒ शान्ति॒रोष॑धय॒ः शान्ति॒र्व॒न॒स्पत॑य॒ः
शान्ति॒र्विश्वे॑ मे दे॒वाः शान्ति॒ः सर्वे॑ मे दे॒वाः शान्ति॒ः शान्ति॒ः शान्ति॒ः शान्ति॑भिः।
ताभिः॒ शान्ति॑भिः सर्व॒ शान्ति॑भिः॒ शम॑यामो॒ऽहं यदि॒ह घो॒रं
यदि॒ह क्रू॒रं यदि॒ह पा॒पं तच्छा॒न्तं तच्छि॒वं सर्व॑मे॒व शम॑स्तु नः॥१४॥

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

शं न॑ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भिः॒ शं न॒ इन्द्रा॑वरुणा रा॒तह॑व्या।
शमिन्द्रा॑सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शं योः॒ शं न॒ इन्द्रा॑पूषणा॒ वाज॑सातौ॥१॥
शं नो॒ भग॒ः शमु॒ नः॒ शंसो॑ अस्तु॒ शं नः॒ पुर॑न्धि॒ः शमु॒ सन्तु॒ राय॑ः।
शं नः॑ स॒त्यस्य॑ सु॒यम॑स्य॒ शंस॒ः शं नो॑ अ॒र्यमा॑ पु॑रुजा॒तो अ॑स्तु॥२॥
शं नो॑ धा॒ता शमु॒ ध॒र्ता नो॑ अस्तु॒ शं न॑ उरू॒ची भ॑वतु स्व॒धाभि॑ः।

शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु॥३॥
शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः॥४॥
शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः॥५॥
शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु॥६॥
शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः॥७॥
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥८॥
शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः॥९॥
शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः॥१०॥

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवताः—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु॥१॥
शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः॥२॥
शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शमहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा॥३॥
आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः॥४॥
ये देवानामृत्विजो यज्ञियासो मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।

ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥५॥
तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय॥६॥

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—अप्रतिरथः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१, २, ७-१० त्रिष्टुप्; ३-६, ११ भुरिक्त्रिष्टुप्॥

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू।
तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्वर्यत्॥१॥
आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः॥२॥
संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुनाऽयोध्येन दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥३॥
स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥४॥
बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्मैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन्॥५॥
इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा॥६॥
अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्योऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु॥७॥
बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जञ्छत्रून्प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम्॥८॥
इन्द्र एषां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु मध्ये॥९॥
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥१०॥

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान्देवासोऽवता हवेषु॥११॥

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्ना प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥१॥

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—१-४ इन्द्रः; ५, ६ मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१ पथ्याबृहती; २, ५ जगती; ३ विराट्पथ्यापङ्क्तिः; ४, ६ त्रिष्टुप्॥

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥१॥
इन्द्रं वयमनूराधं हवामहेऽनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा।
मा नः सेना अररुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय॥२॥
इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः।
स रक्षिता चरमतः स मध्यतः स पश्चात्स पुरस्तान्नो अस्तु॥३॥
उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्व१र्यज्योतिरभयं स्वस्ति।
उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता॥४॥
अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥५॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥६॥

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१ अनुष्टुप्; २ सप्तपदाबृहतीगर्भातिशक्वरी॥

अ॒स॒प॒त्नं पु॒रस्ता॑त्प॒श्चान्नो॒ अभ॑यं कृतम्।
स॒वि॒ता मा॑ दक्षिण॒त उ॑त्त॒रान्मा॒ शची॒पतिः॥१॥
दि॒वो मा॑दि॒त्या र॑क्षन्तु॒ भूम्या॑ रक्षन्त्व॒ग्नयः।
इ॒न्द्रा॒ग्नी र॑क्षतां मा पु॒रस्ता॑द॒श्विना॑व॒भि॒तः शर्म॑ यच्छताम्।
ति॒र॒श्चीन॒घ्न्या र॑क्षतु जा॒तवे॑दा भूत॒कृतो॑ मे स॒र्वतः॑ सन्तु॒ वर्म॑॥२॥

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१-४, ८ जगती; ५, ७, १० अतिजगती; ६ भुरिग्जगती; ९ पञ्चपदाऽतिशक्वरी॥

अ॒ग्निर्मा॑ पातु॒ वस॑भिः पु॒रस्ता॒त्तस्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पु॒रं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मान॒ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥१॥
वा॒युर्मा॒न्तरि॑क्षेणै॒तस्या॑ दि॒शः पा॑तु॒ तस्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पु॒रं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मान॒ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥२॥
सोमो॑ मा रु॒द्रैर्दक्षि॑णाया दि॒शः पा॑तु॒ तस्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पु॒रं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मान॒ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥३॥
व॒रु॒णो मा॑दि॒त्यैरे॒तस्या॑ दि॒शः पा॑तु॒ तस्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पु॒रं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मान॒ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥४॥
सूर्यो॑ मा॒ द्यावा॑पृथिवीभ्यां॒ प्र॒तीच्या॑ दि॒शः पा॑तु॒ तस्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पु॒रं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मान॒ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥५॥
आपो॒ मौष॑धीमतीरे॒तस्या॑ दि॒शः पा॑न्तु॒ तासु॑ क्रमे॒ तासु॑ श्रये॒ तां पु॒रं॒ प्रैमि॑।
ता मा॑ रक्षन्तु॒ ता मा॑ गोपायन्तु॒ ताभ्य॑ आ॒त्मान॒ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥६॥
वि॒श्वक॑र्मा मा सप्त॒ऋषि॑भिरुदी॒च्या दि॒शः पा॑तु॒ तस्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पु॒रं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मान॒ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥७॥
इन्द्रो॑ मा म॒रुत्वा॑ने॒तस्या॑ दि॒शः पा॑तु॒ तस्मि॑न्क्रमे॒तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पु॒रं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मान॒ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥८॥
प्र॒जाप॑तिर्मा प्र॒जन॑नवान्त्स॒ह प्र॑तिष्ठाया ध्रु॒वाया॑ दि॒शः पा॑तु॒ तस्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पु॒रं॒ प्रैमि॑।

स मा॑ रक्षतु स मा॑ गोपायतु तस्मा॑ आ॒त्मान॑ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥९॥
बृ॒ह॒स्पति॑र्मा॒ विश्वै॑र्दे॒वैरू॒ध्वा॑या॑ दि॒शः पा॑तु तस्मि॑न्क्रमे॒
तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पुर॑ं प्रै॒मि॑।
स मा॑ रक्षतु स मा॑ गोपायतु तस्मा॑ आ॒त्मान॑ं परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥१०॥

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१, ८ साम्नीत्रिष्टुप्; २-४, ६ आर्च्यनुष्टुप्; ५ स्वराडार्च्यनुष्टुप्; ७, ९, १० प्राजापत्यात्रिष्टुप्; (सर्वाद्विपदाः)॥

अ॒ग्निं ते वसु॑वन्तमृच्छन्तु। ये मा॑ऽघा॒यव॒ः प्राच्या॑ दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥१॥
वा॒युं ते॒ऽन्तरि॑क्षवन्तमृच्छन्तु। ये मा॑ऽघा॒यव॑ एतस्या॑ दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥२॥
सोम॑ं ते रु॒द्रव॑न्तमृच्छन्तु। ये मा॑ऽघा॒यवो॒ दक्षि॑णाया दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥३॥
वरु॑णं त आदि॒त्यव॑न्तमृच्छन्तु। ये मा॑ऽघा॒यव॑ एतस्या॑ दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥४॥
सूर्य॑ं ते द्यावापृथिवी॒व॑न्तमृच्छन्तु। ये मा॑ऽघा॒यव॑ः प्र॒तीच्या॑ दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥५॥
अ॒पस्त ओष॑धीमतीर्ऋच्छन्तु। ये मा॑ऽघा॒यव॑ एतस्या॑ दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥६॥
वि॒श्वक॑र्माणं॒ ते स॑प्तऋ॒षिव॑न्तमृच्छन्तु।
ये मा॑ऽघा॒यव॒ उदी॑च्या दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥७॥
इन्द्र॑ं ते म॒रुत्व॑न्तमृच्छन्तु। ये मा॑ऽघा॒यव॑ एतस्या॑ दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥८॥
प्र॒जाप॑तिं॒ ते प्र॒जन॑नवन्तमृच्छन्तु। ये मा॑ऽघा॒यवो॑ ध्रु॒वाया॑ दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥९॥
बृ॒ह॒स्पति॑ं ते वि॒श्वदे॑ववन्तमृच्छन्तु।
ये मा॑ऽघा॒यव॑ ऊ॒ध्वा॑या॑ दि॒शो ऽभिदासा॑त्॥१०॥

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१, ३, ९ भुरिग्बृहती; २, ४-८, ११ अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः; १० स्वराट्पङ्क्तिः॥

मि॒त्रः पृ॑थिव्योद॑क्रामत्तां पुर॑ं प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥१॥

वा॒युर॒न्तरि॑क्षेणोद॑क्रामत्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥२॥
सूर्यो॑ दि॒वोद॑क्रामत्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥३॥
च॒न्द्रमा॒ नक्ष॑त्रैरुद॑क्रामत्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥४॥
सोम॒ ओष॑धीभिरुद॑क्रामत्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥५॥
य॒ज्ञो दक्षि॑णाभिरुद॑क्रामत्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥६॥
स॒मु॒द्रो न॒दीभिरुद॑क्रामत्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥७॥
ब्रह्म॑ ब्रह्मचा॒रिभिरुद॑क्रामत्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥८॥
इन्द्रो॑ वी॒र्ये॑३णोद॑क्रामत्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥९॥
दे॒वा अ॒मृ॒ते॒नोद॑क्रामं॒स्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥१०॥
प्र॒जाप॑तिः प्र॒जाभिरुद॑क्रामत्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥११॥

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—गोपथः॥ देवता—वाजी॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अश्रा॑न्तस्य त्वा॒ मन॑सा युनज्मि॑ प्रथ॒मस्य॑ च।
उत्कू॑लमुद्व॒हो भ॑वो॒दुह्य॒ प्रति॑ धावतात्॥१॥

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अग्निः; हिरण्यम्॥ छन्दः—१, २ त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप्; ४ पथ्यापङ्क्तिः॥

अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यमृतं दध्रे अधि मर्त्येषु।
य एनद्वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति॥१॥
यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्व ईषिरे।
तत्त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान्भवति यो बिभर्ति॥२॥
आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च।
यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु॥३॥
यद्वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः।
इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत्त आयुष्यं भुवत्तत्ते वर्चस्यं भुवत्॥४॥

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—विश्वे देवाः; बृहस्पतिः॥ छन्दः—१ परानुष्टुप्त्रिष्टुप्; २ पुरःककुम्मत्युपरिष्टाद्बृहती; ३ बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्; ४ त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री॥

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम।
विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः॥१॥
मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्र मथिष्टन।
शुष्यदा यूयं स्यन्दध्वमुपहूतोऽहं सुमेधा वर्चस्वी॥२॥
मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः।
शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः॥३॥
या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासतामिषम्॥४॥

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—तपः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥१॥

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्म॥ छन्दः—१ अनुष्टुप्; २ ककुम्मतीपथ्यापङ्क्तिः; ३ त्रिष्टुप्; ४ जगती॥

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा॥२॥
अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः।
इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥३॥
अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः॥४॥

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे। अग्नये स्वाहा॥१॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान्दधातु मे। वायवे स्वाहा॥२॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे। सूर्याय स्वाहा॥३॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे। चन्द्राय स्वाहा॥४॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे। सोमाय स्वाहा॥५॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे। इन्द्राय स्वाहा॥६॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु। अद्भ्यः स्वाहा॥७॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा॥८॥

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—१-५ आञ्जनम्; ६-१० अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१, २ अनुष्टुप्; ३-५ त्रिष्टुप्; ६ विराण्महाबृहती; ७-१० निचृन्महाबृहती॥

ऋणादृणमिव संनयन्कृत्यां कृत्याकृतो गृहम्।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन॥१॥
यदस्मासु दुःष्वप्न्यं यद्गोषु यच्च नो गृहे।
अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम्॥२॥
अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते॥३॥
चतुर्वीरं वध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु।
ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चायमिमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम्॥४॥
आक्ष्वैकं मणिमेकं कृष्णुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम्।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान्॥५॥
अग्निर्माग्निनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा॥६॥
इन्द्रो मेन्द्रियेणावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा॥७॥

सोमो॑ मा॒ सौम्ये॑नावतु प्रा॒णायापा॒नायायु॑षे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑॥८॥
भगो॑ मा॒ भगे॑नावतु प्रा॒णायापा॒नायायु॑षे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑॥९॥
म॒रुतो॑ मा ग॒णैर॑वन्तु प्रा॒णायापा॒नायायु॑षे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑॥१०॥

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—१ आत्मा; २ सविता॥ छन्दः—१ एकपदाब्राह्म्यनुष्टुप्; २ त्रिपदायवमध्योष्णिक्॥

अयु॑तो॒ऽहमयु॑तो म आ॒त्मायु॑तं मे॒ चक्षु॒रयु॑तं मे॒ श्रोत्र॒मयु॑तो मे
प्रा॒णोऽयु॑तो मेऽपा॒नोऽयु॑तो मे व्या॒नोऽयु॑तो॒ऽहं सर्वः॑॥१॥
दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्यां॒ प्रसू॑त॒ आ र॑भे॥२॥

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—कामः॥ छन्दः—१, २, ४ त्रिष्टुप्; ३ चतुष्पदोष्णिक्; ५ उपरिष्टाद्बृहती॥

काम॒स्तद॑ग्रे॒ सम॑वर्तत॒ मन॑सो॒ रेतः॑ प्रथ॒मं यदासी॑त्।
स का॑म॒ काम॑ेन बृह॒ता सयो॑नी रा॒यस्पोषं॑ यज॑मानाय धेहि॥१॥
त्वं का॑म॒ सह॑सासि प्रति॑ष्ठितो वि॒भुर्वि॑भावा॑ सख॒ आ स॑खीय॒ते।
त्वमु॒ग्रः पृत॑नासु सास॒हिः सह॒ ओजो॒ यज॑मानाय धेहि॥२॥
दू॒राच्चक्म॒ानाय॑ प्रतिपा॒णायाक्षये। आस्मा॑ अशृण्व॒न्नाशाः॑ काम॑ेनाजनय॒न्त्स्व॒र्॥३॥
काम॑ेन मा॒ काम॒ आग॒न्हृद॑या॒द्धृद॑यं॒ परि॑। यद॒मीषा॑म॒दो मन॒स्तदै॒तूप॒ मामि॒ह॥४॥
यत्का॑म का॒मय॑माना इ॒दं कृ॒ण्मसि॑ ते हु॒विः।
तन्नः॑ सर्व॑ सम॑र्ध्यता॒मथै॒तस्य॑ हु॒विषो॑ वीहि॒ स्वाहा॑॥५॥

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—कालः॥ छन्दः—१-४ त्रिष्टुप्; ५ निचृत्पुरस्ताद्बृहती; ६-१० अनुष्टुप्॥

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥१॥
सप्त चक्रान्वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥२॥
पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्यो॑मन्॥३॥
स एव सं भुवनान्याभरत्स एव सं भुवनानि पर्येत्।
पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः॥४॥
कालोऽमूं दिवमजनयत्काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते॥५॥
कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति॥६॥
काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः॥७॥
काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः॥८॥
तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन्प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥९॥
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयंभूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत॥१०॥

[५४] चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—कालः॥ छन्दः—१, ३, ४ अनुष्टुप्; २ त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री; ५ षट्पदाविराडष्टिः॥

कालादापः समभवन्कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः॥१॥
कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही। द्यौर्मही काल आहिता॥२॥
कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा।
कालादृचः समभवन्यजुः कालादजायत॥३॥
कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः॥४॥
कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान्विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वाँल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥५॥

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—१, ३, ४ त्रिष्टुप्; २ आस्तारपङ्क्तिः; ५ विराट्पुरउष्णिक्; ६ निचृदनुष्टुप्; ७ निचृत्त्रिष्टुप्॥

रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥१॥
या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥२॥
सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥३॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम॥४॥
अपश्चा दुग्धान्नस्य भूयासम्। अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये।
सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः॥५॥

त्वमि॑न्द्रा पु॒रुहू॑त विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नवम्।
अह॑रहर्ब॒लिमित्ते॒ हर॒न्तोऽश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते घा॒सम॑ग्ने॥६॥

[५९] एकोनषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—१ गायत्री; २, ३ त्रिष्टुप्॥

त्वम॑ग्ने व्रत॒पा अ॑सि दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा। त्वं य॒ज्ञेष्वीड्य॑ः॥१॥
यद्वौ॒ व॒यं प्र॑मि॒नाम॑ व्र॒तानि॑ वि॒दुषां॑ देवा॒ अवि॑दुष्टरासः।
अ॒ग्निष्टद्वि॒श्वादा पृ॑णातु वि॒द्वान्त्सोम॑स्य॒ यो ब्रा॒ह्म॒णाँ आ॑वि॒वेश॑॥२॥
आ दे॒वाना॒मपि॒ पन्था॑मगन्म॒ यच्छक्न॑वाम॒ तद॑नुप्रवो॒ळ्हुम्।
अ॒ग्निर्वि॒द्वान्त्स य॑जा॒त्स इद्धोता॒ सो॒ऽध्व॒रान्त्स ऋ॒तून्क॑ल्पयाति॥३॥

[६०] षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—वागादिमन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—१ पथ्याबृहती; २ ककुम्मतीपुरउष्णिक्॥

वाङ् म॑ आ॒सन्न॒सोः प्रा॒णश्चक्षु॑र॒क्ष्णोः श्रोत्रं॑ कर्ण॒योः।
अप॑लिता॒ः केशा॒ अशो॑णा॒ दन्ता॑ ब॒हु बा॒ह्वो॑र्बलं॑म्॥१॥
ऊ॒र्वोरोजो॒ जङ्घ॑योर्ज॒वः पाद॑योः प्र॒ति॒ष्ठा। अरि॑ष्टानि मे॒ सर्वा॒त्मानि॑भृष्टः॥२॥

[६१] एकषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः॥ छन्दः—विराट्पथ्याबृहती॥
त॒नूस्त॒न्वा॑ मे सहे द॒तः सर्व॒मायु॑रशीय।
स्यो॒नं मे॑ सीद पु॒रुः पृ॑णस्व॒ पव॑मानः स्व॒र्गे॥१॥

[६२] द्विषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

प्रि॒यं मा॑ कृणु दे॒वेषु॑ प्रि॒यं राज॑सु मा कृणु।
प्रि॒यं सर्व॑स्य॒ पश्य॑त उ॒त शू॒द्र उ॒तार्ये॑॥१॥

[६३] त्रिषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः॥ छन्दः—विराडुपरिष्टाद्बृहती॥

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥१॥

[६४] चतुःषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥
अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु॥१॥
इध्मेन त्वा जातवेदः समिधा वर्धयामसि।
तथा त्वमस्मान्वर्धय प्रजया च धनेन च॥२॥
यदग्ने यानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।
सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठ्य॥३॥
एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद्भव। आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्या ँय॥४॥

[६७] सप्तषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—प्राजापत्यागायत्री॥

पश्येम शरदः शतम्॥१॥ जीवेम शरदः शतम्॥२॥
बुध्येम शरदः शतम्॥३॥ रोहेम शरदः शतम्॥४॥
पूषेम शरदः शतम्॥५॥ भवेम शरदः शतम्॥६॥
भूयेम शरदः शतम्॥७॥ भूयसीः शरदः शतात्॥८॥

[६८] अष्टषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः कर्म॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे॥१॥

[६९] एकोनसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आपः॥ छन्दः—१ आसुर्यनुष्टुप्; २ साम्न्यनुष्टुप्; ३ आसुरीगायत्री; ४ साम्न्युष्णिक्॥

जी॒वा स्थ॑ जी॒व्यास॒ꣳ सर्व॒मायु॑र्जीव्यासम्॥१॥
उ॒प॒जी॒वा स्थोप॑ जीव्यास॒ꣳ सर्व॒मायु॑र्जीव्यासम्॥२॥
सं॒जी॒वा स्थ॒ सं जी॑व्यास॒ꣳ सर्व॒मायु॑र्जीव्यासम्॥३॥
जी॒व॒ला स्थ॑ जी॒व्यास॒ꣳ सर्व॒मायु॑र्जीव्यासम्॥४॥

[७०] सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—गायत्री॥

इन्द्र॒ जीव॒ सूर्य॒ जीव॒ देवा॒ जीवा॑ जी॒व्यास॑म॒हम्। सर्व॒मायु॑र्जीव्यासम्॥१॥

[७१] एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गायत्री॥ छन्दः—पञ्चपदाऽतिजगती॥

स्तु॒ता मया॑ वर॒दा वे॑दमा॒ता प्र चो॑दयन्तां पावमा॒नी द्वि॒जाना॑म्।
आयुः॒ प्रा॒णं प्र॒जां प॒शुं की॒र्तिं द्रवि॑णं ब्रह्मवर्च॒सम्।
मह्यं॑ द॒त्त्वा व्र॑जत ब्रह्मलो॒कम्॥१॥

[७२] द्विसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—भृग्वङ्गिरा ब्रह्मा॥ देवता—परमात्मा देवाश्च॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

यस्मा॒त्कोशा॑दु॒दभ॑रा॒म॒ वेद॒ꣳ तस्मि॑न्न॒न्तरव॑ दध्म एनम्।
कृ॒तमि॒ष्टं ब्रह्म॑णो वी॒र्ये॑ण॒ तेन॑ मा देवा॒स्तप॑सावते॒ह॥१॥

★★★

अथ विंशं काण्डम्

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—१-३ मेधातिथिः प्रियमेधश्च; ४-६ वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः। कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते॥१॥
न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ। तवेदु स्तोमै चिकेत॥२॥
इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥३॥
वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन्। विद्धी त्वस्य नो वसो॥४॥
मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे। त्वे अपि क्रतुर्मम॥५॥
त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन्। त्वया प्रति ब्रुवे युजा॥६॥

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—१-३ शुनःशेपः; ४-६ मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥१॥
आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः। वाजेभिरुप नो हवम्॥२॥
अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्। यं ते पूर्वं पिता हुवे॥३॥
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥४॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥५॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥६॥

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥१॥
यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥२॥
यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥३॥

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥४॥
यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विजइवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥५॥
यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।
युक्तग्राव्णो यो ऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः॥६॥
यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥७॥
यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥८॥
यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः॥९॥
यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः॥१०॥
यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥११॥
यः शम्बरं पर्यतरत्कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत्सुतस्य।
अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत्स जनास इन्द्रः॥१२॥
यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥१३॥
द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥१४॥
यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः॥१५॥
जातो व्यख्यत्पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य।
स्तविष्यमाणो नो यो अस्मद् व्रता देवानां स जनास इन्द्रः॥१६॥
यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद्रेजन्ते भुवनानि विश्वा।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः॥१७॥

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं ददर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वहा प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥१८॥

[८१] एकाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥

यद् द्यावः इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥१॥
आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा।
अस्माँ अव मघवन्गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिरूतिभिः॥२॥

[८५] पञ्चाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—१, २ प्रगाथः; ३, ४ मेध्यातिथिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥
मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥१॥
अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम्।
विद्वेषणं संवननोऽभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम्॥२॥
यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम्॥३॥
वि तर्तूर्यन्ते मघवन्विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम्।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये॥४॥

[१०८] अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१ गायत्री; २ ककुबुष्णिक्; ३ पुरउष्णिक्॥

त्वं न इन्द्रा भरँ ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे। आ वीरं पृतनाषहम्॥१॥
त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥२॥
त्वां शुष्मिन्पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो। स नो रास्व सुवीर्यम्॥३॥

★★★